शास्त्रमवगत्य मनोवाग्देहैः कृष्णः सेव्यः

(श्रीवल्लभाचार्याः)

श्रीकृष्णाय नमः

श्रीमद्विट्ठलेशप्रभुचरणप्रणीतो

भक्तिहंसः

जयन्ति पितृपादाब्जरेणवो यत्प्रसादतः।
भक्तिः प्राप्ता तदन्याध्वमोहाभावश्च पण्डितैः ॥ १ ॥

श्रीकृष्णाय नमः

'चिन्तासन्तानहन्तारो यत्पादाम्बुजरेणवः।
स्वीयानां तान्निजाचार्यान् प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥'
श्रीमद्वल्लभशास्त्रमात्तवपुषं स्नेहावतारं गुरुम्;
आचार्यं कृतपुण्यपुण्यनिचयं गोस्वामिनं दीक्षितम्।
शिष्यानुग्रहविग्रहं मतिमतां श्रद्धास्पदं सादरम्;
ध्यात्वाहं हृदि भक्तिहंसममलं व्याख्यामि हिन्दीगिरा ॥
प्राचां वाचां समाहृत्य तत्त्वं श्रुत्वा गुरोर्गिरः।
चिन्तयित्वा चिरं व्याख्या विवेकाख्या विलिख्यते ॥

भक्तिहंस-विवेक

'पुरुषः स परः पार्थ! भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।' (गीता ८।२२) तथा **'भक्त्याहमेकया ग्राह्यः'** (भाग० ११।१४।२१) इत्यादि वाक्यों द्वारा स्वयं भगवान् के अपने को अनन्यभक्तिलभ्य बताने से स्पष्ट है कि पुरुषोत्तम की प्राप्ति के इच्छुक व्यक्तियों के लिए भक्ति के स्वरूप का प्रामाणिक ज्ञान आवश्यक है; अतः कर्म, ज्ञान अथवा उपासना में ही लगे रहने और तदनुसार ही भक्ति का निरूपण करने वाले, भक्ति के यथार्थ स्वरूप से अनभिज्ञ लोगों के मतों का निरास (अर्थात् भक्ति के लोकप्रसिद्ध आराध्यत्व, ज्ञान, उपासना एवं श्रवणादि से भिन्न होने का प्रतिपादन) करते हुए भक्ति के यथार्थ स्वरूप का निर्णय करने के लिए **भक्तिहंस** नामक अपने इस निबन्ध का प्रारम्भ करते हुए गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथ वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गलाचरण करते हैं।

परमपूज्य पिताजी (अर्थात् महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्य) के चरणकमलों की रज—जिसकी कृपा से पण्डितों अर्थात् सदसद्विवेकशील बुद्धिमानों ने भक्ति और उसके

मन्त्रोपासनवैदिकतान्त्रिकदीक्षार्चनादिविधिभिर्यः ।
अस्पृष्टो रमते निजभक्तेषु स मेऽस्तु सर्वस्वम् ॥ २ ॥

ननु किमिदमपूर्वतरमिवोच्यते ?

स्वरूप का ज्ञान तथा भक्तिमार्ग से भिन्न (कर्म, ज्ञान एवं उपासना आदि) मार्गों में होने वाले मोह (अर्थात् ये मार्ग पुरुषोत्तमप्राप्ति के समर्थ साधन हैं इस भ्रम) से छुटकारा प्राप्त किया—विजयशील अर्थात् सर्वोत्कर्षशाली है ॥ १ ॥

मन्त्रोपासना (अर्थात् कर्मकाण्डान्तःपाती तथा कामोपाधिक गायत्री आदि किसी मन्त्र की पुरश्चरणपूर्वक सिद्धि करना), वैदिकी दीक्षा (सौमिकी अथवा नारायणाष्टाक्षरादि की दीक्षा), (पञ्चरात्राद्यागमोक्त) तान्त्रिकी दीक्षा और अर्चन (अर्थात् भगवत्प्रतिमा आदि का स्वयं पूजन करना या द्रव्यादि देकर किसी अन्य व्यक्ति द्वारा पूजन करवाना) आदि (अर्थात् जप, दान आदि) की विधियों से अस्पृष्ट (अर्थात् इन विधियों के फल, विधेय या उद्देश्य न होने के कारण इनसे असम्बद्ध और इसीलिए इनके अनधीन) तथा अपने भक्तों (अर्थात् भगवान् ने जिन्हें अपना मान कर स्वीकार कर लिया है उन सेवकों) में रमण करने वाले (अर्थात् उनके अधीन होकर क्रीडा करने वाले) भक्तिमात्राधीन भगवान् मेरे सर्वस्व (अर्थात् आत्मा, आत्मीय, बन्धु, कुटुम्बी और धन आदि सब कुछ) हों ॥ २ ॥

उपर्युक्त मङ्गल श्लोकों में से प्रथम द्वारा ग्रन्थकार ने भक्ति की अनन्यता (अर्थात् इतर साधनों में निष्ठा के अभावपूर्वक भक्ति में निष्ठा) द्योतित करने के साथ ही यह सूचित किया है कि विवक्षित भक्ति और उसके स्वरूप के ज्ञान की प्राप्ति आचार्यचरणों की कृपा से ही सम्भव है अतः भक्तिप्राप्ति के इच्छुक व्यक्तियों को आचार्यचरणों के प्रति निष्ठावान् होकर उनके वचनों में पूर्ण विश्वास रखना चाहिए। इस प्रारम्भिक कक्षा की ओर संकेत करने के बाद द्वितीय मङ्गल श्लोक में ग्रन्थकार ने भगवान् को सर्वस्व समझने की द्वितीय कक्षा की ओर संकेत किया है।

भगवान् को मन्त्रोपासनादि से प्राप्य मानने वाला प्रतिपक्षी उन्हें मन्त्रोपासना आदि की विधियों से अस्पृष्ट या असम्बद्ध मानने के उपर्युक्त सिद्धान्त पर आक्षेप करते हुए पूर्वपक्ष प्रस्तुत करता है।

पूर्वपक्षी कहता है कि सिद्धान्ती (भगवान् के विधि से अस्पृष्ट या असम्बद्ध और भक्त्यधीन होने का) यह अपूर्व सा सिद्धान्त कैसे प्रतिपादित कर रहा है ?

सत्यम्, अपूर्वतममपि श्वभ्रकूपपतितभेकसदृशां त्वादृशाम्, न तु विदुषाम्, पूर्वमेवानेकप्रमाणसिद्धत्वात्। तथाहि—

'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' (कठोप० १।२।२३; मुण्ड० उप० ३।२।३)

इति श्रुतौ **'यमेव'** इति सामान्योक्त्या अग्रिमेण च भगवदङ्गीकारमात्रैकलभ्यत्वोक्त्या प्रवचनादिपदानि आत्मीयत्वेन भगवदङ्गीकारातिरिक्तयावत्साधनोपलक्षकाणि इति ज्ञायते। तेन जीवकृतिसाध्यसाधनैः अप्राप्यत्वमुक्तं भवति।

पूर्वपक्षी का अभिप्राय यह है कि सिद्धान्ती का भगवान् को विधि से असम्बद्ध या अस्पृष्ट कहना अपूर्व अर्थात् उसके अज्ञान और दुराग्रह का सूचक है क्योंकि मन्त्रशास्त्र में भगवान् के उपासना द्वारा प्राप्य होने का प्रतिपादन मिलने के कारण भगवान् को मन्त्रोपासनादि की विधि से सम्बद्ध मानना चाहिए। विहित क्रिया का फल विधि से सम्बद्ध होता है, जैसे कि **'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः'** इत्यादि विधि द्वारा विहित क्रिया का फलरूप स्वर्ग उपर्युक्त विधि से सम्बद्ध है, अतः भगवत्प्राप्ति के मन्त्रोपासनादि की विधियों द्वारा विहित क्रिया का फल होने के कारण भगवान् को उन विधियों से सम्बद्ध मानना चाहिए।

पूर्वपक्षी को अल्पज्ञ बताता हुआ सिद्धान्ती व्यङ्ग्यपूर्वक आक्षेप करता हुआ उसके मत का निरसन करने में प्रवृत्त होता है—

सच है। तुम्हारे जैसे कूपमण्डूकों (**अर्थात् स्वल्प ज्ञान के आधार पर ही** काल्पनिक प्रलाप करने वालों) के लिए तो यह सिद्धान्त अपूर्वतम (**अर्थात् अश्रुतपूर्व और इसीलिए** अप्रामाणिक) भी हो सकता है किन्तु विद्वानों के लिए नहीं, क्योंकि यह पहले ही अनेक प्रमाणों से सिद्ध किया जा चुका है।

सिद्धान्त को अनेकप्रमाणसिद्ध कह कर सिद्धान्ती उसके वेदवाक्यों पर आश्रित होने की पुष्टि करता है—

सिद्धान्त का अनेकप्रमाणसिद्ध होना अधोलिखित विवेचन से स्पष्ट है। कठोपनिषद् (१।२।२३) एवं मुण्डकोपनिषद् (३।२।३) में कहा गया है कि **'इस आत्मा (अर्थात् परमात्मा या ब्रह्म) को न तो प्रवचन से प्राप्त किया जा सकता है, न मेधा से और न बहुश्रुतता से ही। यह तो जिसको वरण करता है उसी को प्राप्त हो सकता है'**। इस वाक्य में **'यमेव'** (**अर्थात् 'जिसको ही'**) इस सामान्य कथन से और आगे चल कर केवल भगवान् द्वारा अङ्गीकृत होने पर ही उन्हें प्राप्त कर सकना

पूर्वं जीवगतोत्कर्षोऽपि अप्रयोजक इत्यपि। वरणोक्त्या यथा कन्यका स्वाभिमतमेव स्वपतित्वेन वृणुते, वरो वा तादृशीमेव कन्यां स्वस्त्रीत्वेन, तथा भगवान् स्वदासत्वेन आत्मीयत्वेन अङ्गीकरोति इत्युच्यते। तथा च यथा तदनन्तरं नान्यत्र विनियोगः तस्याः तथा एतस्यापि इति ज्ञापितं भवति।

सम्भव होने के कथन से यह ज्ञात होता है कि वाक्य में आये प्रवचन आदि पद भगवान् द्वारा आत्मीय के रूप में अङ्गीकृत किये जाने के अतिरिक्त अन्य सभी (जीवसम्बन्धी) साधनों के उपलक्षक हैं।

प्रवचन आदि पदों को अन्य सभी (जीवसम्बन्धी) साधनों का उपलक्षक कहने का तात्पर्य यही है कि परमात्मा के प्रवचन आदि से प्राप्य न होने के कथन का अभिप्राय उनके जीवनिष्ठ या जीवकृत किसी भी साधन से प्राप्त न हो सकने तथा केवल भगवत्कृतिसाध्य अनुग्रह मात्र से ही प्राप्त हो सकने का प्रतिपादन करना है।

इससे उपर्युक्त कथन का अभिप्राय यही सिद्ध होता है कि परमात्मा उन सभी साधनों से अप्राप्य हैं जो जीवकृतिसाध्य हैं अर्थात् जिनका उपयोग कर सकना जीवों के वश में है।

भगवान् को केवल भगवत्कृतिसाध्य अनुग्रह से ही प्राप्य मानने में एक कठिनाई यह है कि उनकी इच्छा की ही भाँति उनके अनुग्रह को जान सकना भी सम्भव नहीं है। इसका समाधान सिद्धान्ती यह कह कर करते हैं कि भगवदनुग्रह का यद्यपि प्रत्यक्ष नहीं हो सकता किन्तु उसका ज्ञान महापुरुषों द्वारा किये जाने वाले अनुग्रह से अधोलिखित प्रकार से कार्यलिङ्गक अनुमान से प्राप्त किया जा सकता है। 'यह व्यक्ति भगवदनुगृहीत है, क्योंकि यह वरुण, नल-कूबर आदि की ही भाँति महापुरुषों द्वारा अनुगृहीत है'। इसी बात को दृष्टिगत रखते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि

उपर्युक्त कथन से ही यह भी सूचित होता है कि इसके (अर्थात् महापुरुषों के अनुग्रह होने के) पहले जीवगत (महाकुलीनत्वादिरूप) उत्कर्ष भी प्रयोजक नहीं होता। पूर्वोद्धृत श्रुतिवाक्य में स्वादिगणी उभयपदी सेट् धातु वृञ् (वृञ् वरणे, धातुपाठ १२७९) से निष्पन्न 'वृणुते' इस पद से वरण (अर्थात् स्वीकार करने) के कथन द्वारा यह अभिप्राय प्रकट किया गया है कि जिस प्रकार कन्या अपने अभिमत व्यक्ति को ही अपने पति के रूप में वरण करती है अथवा जिस प्रकार वर उसी प्रकार की (अर्थात् अपनी अभिमत) कन्या को ही वरण करता है उसी प्रकार भगवान् जीव को अपने दास के रूप में, आत्मीय के रूप में अङ्गीकार करते हैं। और इससे यह भी सूचित होता है कि

पूर्वं केनापि ज्ञातुमशक्यमित्यपि ।

एवं सति विहितक्रियाफलत्वेन स्वर्गादिवद्भगवति पूर्वोक्तविधिसम्बन्धस्तु न शक्यवचनः । स्वकृत्यसाध्यत्वाद् यागादिवदपि न तथा ।

जिस प्रकार वरण के बाद कन्या का अन्यत्र विनियोग नहीं होता वैसे ही भगवान् द्वारा वरण किये गये जीव का भी भगवत्सेवा के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र विनियोग नहीं होता[1] ।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार लौकिक पति अपनी वरण की गयी पत्नी को अपने में पूर्ण आसक्त कर लेता है उसी प्रकार भगवान् जीव की अन्य सभी वस्तुओं में आसक्ति समाप्त कर उसे आत्मपरायण (अर्थात् भगवत्परायण) बना देते हैं।

इससे यह भी सूचित होता है कि यह वरण (महापुरुषों के अनुग्रह एवं भगवान् में एकतानता रूप फलों से अनुमेय है और इनके) पहले किसी के द्वारा जाना भी नहीं जा सकता। ऐसी स्थिति में, जिस प्रकार (स्नानदानादि) विहित क्रियाओं के करने वालों को उन विधियों से सम्बद्ध फल के रूप में स्वर्गादि की प्राप्ति होती है उस प्रकार भगवान् (किसी कर्म के फलरूप नहीं है और इसीलिए किसी कर्म की विधि से सम्बद्ध भी नहीं हैं अतः उन) को पूर्वोक्त मन्त्रोपासनादि की विधियों से सम्बद्ध नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार उपलक्षणविधि से भगवान् के जीवकृत किसी भी साधन द्वारा प्राप्त न हो सकने का उपपादन करने वाले उपर्युक्त श्रुतिवाक्य के अर्थ का विचार करने से यही निष्कर्ष निलता है कि भगवान् को मन्त्रोपासनादि की विधियों से सम्बद्ध नहीं माना जा सकता अतः उन्हें विधि से सम्बद्ध बताने वाले मन्त्रशास्त्ररूपस्मृतियों के वाक्य तथा उन पर आश्रित अनुमान श्रुतिविरोधी होने के कारण अप्रामाणिक हैं। भगवान् को विधि से सम्बद्ध सिद्ध करने वाले अनुमान[2] के विरोध में अधोलिखित प्रत्यनुमान के उपन्यस्त किये जा सकने के कारण उसे भी प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। 'भगवान् मन्त्रोपासनादि की विधियों से असम्बद्ध हैं क्योंकि श्रुति में उन्हें वरण के अतिरिक्त अन्य साधनों से अप्राप्य कहा गया है।'

परमात्मा के स्वरूप के सर्वदा सिद्ध होने के कारण जीवकृति के द्वारा असाध्य होने से उन्हें यागादि की भाँति विधेय के रूप में विधि से सम्बद्ध भी नहीं कहा जा सकता।

तात्पर्य यह है कि परमात्मा का स्वरूप सर्वदा सिद्ध है यागादि की भाँति जीवकृतिनिष्पाद्य नहीं, अतः उन्हें यागादि की भाँति विधेय के रूप में विधि से सम्बद्ध कहना भी ठीक न होगा।

१—भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिर्नान्यथा··· (पुष्टिप्र० म० १२)।

२—देखिए, ऊपर पृष्ठ ३ विवेक व्याख्या।

अतः परम् इन्द्रादिवदुद्देश्यत्वेन तत्सम्बन्धोऽवशिष्यते । तत्रापि वदामः । **'सर्वस्य वशी सर्वस्येशान'** (बृह० उप० ४।४।२२) इत्यादिश्रुतिभ्यो, **'देवोऽसुरो मनुष्यो वा यक्षो गन्धर्व एव वा ।
भजन् मुकुन्दचरणं स्वस्तिमान् स्याद् यथा वयम् ॥'**(भाग०७।७।५०),
**'को नु राजन् ! इन्द्रियवान् मुकुन्दचरणाम्बुजम् ।
न भजेत् सर्वतोमृत्युः उपास्यममरोत्तमैः ॥'** (भाग०११।२।२),

(भगवान् के मन्त्रोपासनादि की विधियों से फल के रूप में तथा विधेय के रूप में सम्बद्ध होने के पक्षों का निरास हो जाने पर) अब इन्द्रादि की भाँति उद्देश्य के रूप में उनके विधि से सम्बद्ध होने का पक्ष शेष रह जाता है ।

पूर्वपक्षी का कहना है कि उपर्युक्त श्रुति में भगवान् के विधि का उद्देश्य होने का निषेध न होने के कारण सिद्धान्ती को भगवान् को मन्त्रप्रकाश्य, मन्त्राधिष्ठाता तथा मन्त्रपूज्य के रूप में मन्त्रादि की विधि से सम्बद्ध मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए । भगवान् मन्त्रोपासनादि की विधियों से सम्बद्ध हैं क्योंकि वे मन्त्रशास्त्रविहित क्रियाओं के उद्देश्य हैं । भगवान् के उक्त शास्त्र में विहित क्रियाओं का उद्देश्य होने की सिद्धि उनके उस शास्त्र का प्रतिपाद्य होने से होती है और वे शिव के शैवशास्त्र के प्रतिपाद्य होने की भाँति ही मन्त्रोपासनादि शास्त्र के प्रतिपाद्य इसलिए हैं कि वे उस शात्र के प्रधान मन्त्र के प्रकाश्य एवं अधिष्ठाता हैं । इस प्रकार अनुमान से भी भगवान् के मन्त्रोपासनादि की विधियों से उद्देश्यरूप में सम्बद्ध होने की सिद्धि होती है, अतः प्रकृत ग्रन्थ के द्वितीय श्लोक में सिद्धान्ती का उन्हें मन्त्रोपासनादि की विधियों से अस्पृष्ट कहना ठीक नहीं है ।

सिद्धान्ती का कहना है कि भगवान् को उद्देश्य मानने पर भी उन्हें विधि से अस्पृष्ट मानना ही ठीक होगा । पूर्वपक्षी भगवान् का विधि से उद्देश्य के रूप में जैसा सम्बन्ध मानता है उससे कुछ विलक्षण सम्बन्ध प्रतिपादित करते हुए सिद्धान्ती उस प्रकार के सम्बन्ध का निरूपण करता है जिसको स्वीकार कर लेने पर भी उसके पूर्वोक्तसिद्धान्त में दोष नहीं आता ।

इस पक्ष के सम्बन्ध में हमें यह कहना है ।

'सब को वश में रखने वाला, सब को शासित करने वाला' (बृह० उप० ४।४।२२) इत्यादि श्रुतिवाक्यों और **'देवता, असुर, मनुष्य, यक्ष अथवा गन्धर्व कोई भी क्यों न हो—जो भगवान् के चरणकमलों की भक्ति या सेवा करता है, वह हम लोगों की ही भाँति कल्याण का भाजन होता है'** (भाग०७।७।५०),

'मां हि पार्थ ! व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्राः तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥' (गीता ९।३२)

इत्यादिस्मृतिभ्यश्च जीवमात्रस्य भगवान् पतिः इति स्त्रियाः स्वपति-भजनवज्जीवमात्रस्य भगवद्भजनम् इष्टम् इष्टसाधनञ्च इत्यङ्गीकार्यं सर्वथा। तच्च श्रवणादिरूपम्।

'हे राजन् ! ऐसा कौन सा व्यक्ति है जो सब ओर से मृत्यु से घिरा हुआ होने पर भी (भगवान् की सेवा की साधनभूत) **इन्द्रियों के होते हुए भी, उत्तम देवताओं के भी** उपास्य (**सुखसेव्य** तथा **मोक्षदाता**) **भगवान् श्रीकृष्ण के चरण कमलों की भक्ति या** या सेवा न करना चाहे' (भाग० ११।२।२), तथा **'हे पार्थ ! स्त्री, वैश्य तथा शूद्र जो भी पापयोनि (अर्थात् जिनके जन्म का कारण पाप है ऐसे प्राणी) हैं वे भी मुझे अपना आश्रय या अवलम्ब बना कर अर्थात् मेरी शरण में आकर उत्तम गति को प्राप्त करते हैं'** (गीता ९।३२) इत्यादि स्मृतिवाक्यों से ज्ञात होता है कि भगवान् जीवमात्र (अर्थात् सभी जीवों) के पति या स्वामी हैं, अतः जिस प्रकार स्त्री के लिए अपने पति की सेवा इष्ट तथा अभीष्टसिद्धि का साधन होती है उसी प्रकार भगवान् की भक्ति या सेवा सभी जीवों का इष्ट तथा इष्टसिद्धि का साधन है ऐसा सर्वथा स्वीकार करना चाहिए। और भगवान् की वह भक्ति श्रवणादिरूप है (न कि मन्त्रोपासनादिरूप)।

'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः' (बृह० उप० ४।४।२२) इत्यादि श्रुतिवाक्य में आये **'सर्वस्य'** पद से भगवान् के जीवमात्र के पति या स्वामी होने की सिद्धि होती है। इसी प्रकार स्मृतिवाक्यों में आये **'देव'**, **'इन्द्रियवान्,'** और **'येऽपि'** इत्यादि पदों से जीवमात्र को भगवद्भजन इष्ट (अर्थात् स्वतन्त्र पुरुषार्थ) है यह ज्ञान तथा **'स्वस्तिमान् स्याद्'** इत्यादि पदों से भगवद्भजन इष्टसाधन है यह ज्ञान होता है। उपर्युक्त उद्धरणों में से प्रथम (बृह०उप० ४।४।२२) भगवान् के सर्वेश्वर होने का, द्वितीय (भाग०७।७।५०) भगवद्भजन के इष्टसाधक होने का, तृतीय (भाग० ११।२।२) भगवद्भजन के अनिष्टनिवारक होने का और चतुर्थ (गीता ९।३२) भगवदाश्रय के इष्टसाधक एवं अनिष्टनिवारक होने का प्रतिपादक है।

भगवान् का सर्वोपास्य होना श्रुति, स्मृति एवं ब्रह्मसूत्र आदि के **'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'** (कठोप० १।२।१५), **'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'** (गीता १५।१५), **'सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्'** (ब्रह्मसूत्र १।२।१) तथा **'सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात्'** (ब्रह्मसूत्र ३।३।१) इत्यादि वाक्यों से सिद्ध होने के कारण सभी को स्वीकार करना चाहिए। भगवान् किस रूप में उपास्य हैं इसका विचार करने पर **'सर्वस्य**

एवं सति भगवानिव तन्नामादिकमपि सर्वान् प्रति अविशिष्टम् इति मन्तव्यम्। मन्त्रशास्त्रे तु निगद्यते, 'राममन्त्रः तदधिष्ठातृभजनञ्च कस्यचिन्मित्रं कस्यचिदरिः कस्यचित्सिद्धं कस्यचित्साध्यम्' इत्यादि। एवमेव गोपालादिमन्त्राः तदधिष्ठातृभजनानि च इति। एवं सति तदधिष्ठातृरूपस्य पुरुषोत्तमत्वे पूर्वोक्त-श्रुतिस्मृतिन्यायेन सर्वान् प्रति भजनीयत्वेन अविशिष्टं स्यान्नतु तथा इत्यन्यथा-नुपपत्त्यैव तत्पुरुषोत्तमस्य विभूतिरूपं भिन्नमेवेति मन्तव्यम्।

वशी सर्वस्येशानः' (बृह० उप० ४।४।२२) इत्यादि श्रुति की पर्यालोचना करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि वे सर्वेश्वर और सर्वाविशिष्ट रूप में उपास्य हैं। यह ज्ञान भगवदनुगृहीत लोगों को ही हो पाता है अतः सर्वोपास्यत्वलक्षणसम्बन्ध का पर्यवसान अन्ततः अनुग्रह में ही होता है। तात्पर्य यही है कि भगवान् जिस पर जिस रूप में अनुग्रह करते हैं उसके उसी रूप में उपास्य होते हैं और यह बात तो सिद्धान्ती को भी स्वीकार ही है अतः सिद्धान्ती भगवान् के इस रूप में नहीं प्रत्युत इससे भिन्न रूप में मन्त्रोपासनादि की विधि का उद्देश्य होने का निषेध करता है।

भगवान् और उनकी भक्ति के सर्वोपास्य और सभी के लिए अविशिष्ट होने से भगवान् के मन्त्रोपासनादि की विधियों का उद्देश्य होने के पक्ष का निराकरण किस प्रकार किया जा सकता है यह स्पष्ट करते हुए सिद्धान्ती कहता है कि—

इस प्रकार भगवान् के सर्वोपास्य तथा सभी के प्रति अविशिष्ट होने से उनके नाम आदि (अर्थात् उनकी उपासना के साधन) भी सभी के प्रति अविशिष्ट हैं ऐसा मानना चाहिए। किन्तु मन्त्रशास्त्र में कहा जाता है कि, 'राम का मन्त्र और उसके अधिष्ठातृरूप का भजन किसी के लिए मित्र है और किसी के लिए शत्रु, किसी के लिए सिद्ध है और किसी के लिए साध्य।' यही बात गोपाल आदि के मन्त्रों तथा उनके अधिष्ठातृरूपों की भक्ति के बारे में भी कही जाती है। ऐसी स्थिति में यदि भगवान् को पूर्वपक्षी द्वारा प्रतिपादित प्रकार से मन्त्रोपासनादि की विधि का उद्देश्य मान लिया जाए तो पुरुषोत्तम (भगवान् श्रीकृष्ण) को ही उपर्युक्त राममन्त्र, गोपालमन्त्र आदि का अधिष्ठातृरूप मानना होगा और जैसा कि पूर्वोद्धृत श्रुति, स्मृति एवं ब्रह्मसूत्र के वाक्यों से सिद्ध है इस अधिष्ठातृरूप को सभी का समान रूप से भजनीय और सभी के प्रति अविशिष्ट मानना होगा किन्तु जैसा कि ऊपर ('राममन्त्र और उसके अधिष्ठातृरूप का भजन किसी के लिए मित्र है और किसी के लिए शत्रु' इत्यादि वाक्यों में) कहा गया है, ऐसा है नहीं, अतः यह मानना चाहिए कि मन्त्राधिष्ठातृरूप (पुरुषोत्तम से भिन्न) एक अन्य ही रूप है और वह पुरुषोत्तम का विभूतिरूप है, क्योंकि यह माने बिना उपर्युक्त अनुपपत्ति को दूर नहीं किया जा सकता।

ननु विहितप्रकारेण भजनं हि सर्वस्यापि इष्टदम् अतो नानुपपत्तिः काचिद् इति चेद्, उच्यते।

'यानास्थाय नरो राजन्! न प्रमाद्येत कर्हिचित्।
धावन् निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह॥' (भाग० ११।२।३५)

तात्पर्य यह है कि मन्त्रशास्त्रीय विधि में (मन्त्राधिष्ठातृरूप में) भगवान् की विभूति ही उद्देश्य के रूप में विधि से सम्बद्ध होती है (साक्षात् भगवान् नहीं सम्बद्ध होते), अतः मन्त्र इसी अर्थ में परम्परया भगवत्परक हैं साक्षात् भगवत्परक नहीं। इस प्रकार प्रतिपक्षी का साक्षात् भगवान् को मन्त्रोपासनादि की विधियों का उद्देश्य मानना ठीक नहीं है और इसीलिए भगवान् को मन्त्रोपासनादि की विधियों से अस्पृष्ट कहने में कोई अनुपपत्ति नहीं है।

पूर्वपक्षी ने भगवान् को मन्त्रोपासनादि की विधियों से उद्देश्यरूप में सम्बद्ध सिद्ध करने के लिए जो अनुमान उपन्यस्त किया था[1] उसके विरोध में अधोलिखित प्रत्यनुमान, जो श्रुत्यनुगृहीत होने के कारण पूर्वोक्त अनुमान का बाधक है, प्रस्तुत किया जा सकता है। 'भगवान् मन्त्रोपासनादि की विधियों से असम्बद्ध हैं, क्योंकि वे उनके उद्देश्य नहीं हैं। उनको उन विधियों का उद्देश्य इसलिए नहीं कहा जा सकता कि वे उस शास्त्र के प्रतिपाद्य नहीं हैं। उनके उस शास्त्र के प्रतिपाद्य न होने की सिद्धि उस शास्त्र में कहे गये धर्मों से रहित होने तथा तद्विरोधी धर्मों से युक्त होने से होती है, क्योंकि जो जिस शास्त्र में कहे गये धर्मों से रहित तथा तद्विरुद्ध धर्मों से युक्त हो वह उस शास्त्र का प्रतिपाद्य नहीं होता, जैसे शिव (उपर्युक्त कारणों से ही) वैष्णवशास्त्र के प्रतिपाद्य नहीं हैं।

पूर्वपक्षी तर्क प्रस्तुत करता है कि विहित रूप में किये गये भजन से सभी की इष्टसिद्धि हो सकती है, अतः साक्षात् भगवान् को ही राममन्त्रादि की विधि से उद्देश्य के रूप में सम्बद्ध मानने में कोई अनुपपत्ति नहीं है। इसके उत्तर में सिद्धान्ती का कहना है कि श्रीमद्भागवत के **'हे राजन्! आत्मोपलब्धि के जिन भगवदुक्त उपायों का आश्रय लेकर या अवलम्बन कर (अर्थात् शरीर, वाणी एवं मन से अनुष्ठान कर), मनुष्य विघ्नों से पीडित नहीं होता तथा (श्रुतिस्मृतिरूप या शास्त्र एवं गुरुरूप दोनों) आँखों को मूँद कर (अर्थात् ज्ञानाभावपूर्वक) दौड़ता हुआ भी (अर्थात् भागवत धर्मों का अनुष्ठान करने में शीघ्रतावश साधनों का परित्याग या शास्त्र एवं गुरु की**

---

१. देखिए, ऊपर पृष्ठ ६, विवेकव्याख्या।

इति वाक्ये भगवद्धर्मास्थितिमात्रेणैव भगवत्प्राप्त्यर्थमत्यार्त्या नित्यसाधनपरित्यागे शास्त्रगुरूल्लङ्घनेऽपि फलविलम्बः फलाभावो वा न भवतीति निरूप्यते। आस्थितिः तु कायवाङ्मनसां तदीयत्वम्।

एवं सति मन्त्रोपासनाया अपि भगवद्धर्मत्वं स्यात्, तदा तत्परत्वमात्रेणैव यस्य कस्यचिदिष्टमेव फलं भवेन्न तु अन्यथा।

ननु,

'सर्वेषु वर्णेषु तथाऽऽश्रमेषु नारीषु नानाह्वयजन्मभेषु।
दाता फलानामभिवाञ्छितानां द्रागेव गोपालकमन्त्र एषः॥'

आज्ञा का उल्लङ्घन कर देने पर भी) वह न तो स्खलित ही होता है और न पतित ही[1] अर्थात् न तो उसे फलप्राप्ति में विलम्ब ही होता है और न वह फल से वञ्चित ही होता है[2] (भाग० ११।२।३५)। इस वाक्य में यह निरूपित किया गया है कि भगवद्धर्मों में आस्थिति मात्र) अर्थात् शरीर, वाणी और मन से तत्पर होने मात्र) से भगवान् की प्राप्ति के लिए अत्यधिक आर्ति के कारण नित्यसाधनों का परित्याग कर देने तथा शास्त्र एवं गुरु की आज्ञाओं का उल्लङ्घन कर देने पर भी न तो फल मिलने में बिलम्ब ही होता है और न फल से वञ्चित ही होना पड़ता है। ऊपर प्रयुक्त हुए 'आस्थिति' शब्द का अर्थ है शरीर, वाणी एवं मन का तदीय अर्थात् तत्पर होना[3]।

ऐसी स्थिति में यदि मन्त्रोपासना भी भगवद्धर्म होती तो मन्त्रोपासना मात्र से ही किसी को भी इष्टफल की ही प्राप्ति होती अन्यथा अर्थात् अनिष्ट की नहीं।

तात्पर्य यह है कि उपासना में विहित कर्म में त्रुटि से अनिष्ट होता है किन्तु भगवद्धर्म में ऐसा नहीं होता अतः उपासना को भगवद्धर्म और भगवान् को उपासनाविधि का साक्षात् उद्देश्य नहीं कहा जा सकता।

पूर्वपक्षी का कहना है कि 'यह गोपालमन्त्र सभी वर्णों तथा आश्रमों के व्यक्तियों और विभिन्न नामों वाले तथा विभिन्न जन्मनक्षत्रों में उत्पन्न होने वाले लोगों को शीघ्र

---

१. गोस्वामी गिरिधर की व्याख्या के अनुसार इस श्लोक के चतुर्थ चरण का तात्पर्य यह है कि भागवत धर्मों का अनुष्ठान करने में त्रुटि हो जाने पर भी व्यक्ति फल से वञ्चित नहीं होता और प्रत्यवाय हो जाने पर भी नरक आदि में नहीं जाता।

२. 'त्वरायां साधनपरित्यागे शास्त्रगुरूल्लङ्घने फलविलम्बः फलाभावो वा न भवति इत्यर्थः' (सुबो० ११।२।३५)।

३. तेषाम् आस्थितिः कायवाङ्मनसां तदीयत्वम्' (सुबो० ११।२।३५)।

इतिवाक्यात् सर्वाभीष्टदत्वं गोपालमन्त्रोपासनायामस्ति इति नोक्तरूपता इति चेत् ?

सत्यम्, अस्ति सर्वाभीष्टदत्वं, न तु उक्तरूपतापि, उपासनामार्गीयत्वात्। न हि कर्माङ्गत्वेन क्रियमाणस्य भगवत्स्मरणस्य भक्तिरूपत्वं वक्तुं शक्यम्, कर्ममार्गीयत्वात्। अपरञ्च तत्र वराङ्गनावशीकरणादिकं फलत्वेन श्रूयते, न हि पुरुषोत्तमभक्तेः तत्फलीभवितुमर्हति, अनर्थरूपत्वात्,

---

ही अभिवाञ्छित फलों को देने वाला है' इस वाक्य से यह ज्ञात होता है कि गोपालमन्त्र की उपासना सभी अभीष्ट फलों को देने वाली है, अतः इसे अनिष्ट करने वाली नहीं कहा जा सकता।

पूर्वपक्षी के कथन का आशय यह है कि जिस प्रकार भक्तिमार्ग में पुरुषोत्तम को सारे अभीष्ट फलों का देने वाला कहा गया है उसी प्रकार मन्त्रशास्त्र में गोपालमन्त्र को भी सारे अभीष्ट फलों को देने वाला बताया गया है, यदि यह मन्त्र पुरुषोत्तमविषयक न होता अर्थात् यदि इसके उद्देश्य साक्षात् भगवान् न होते तो इसकी फलश्रुति ऐसी नहीं हो सकती थी। अतः गोपालमन्त्र की उपासना से अतिरिक्त उपासनाओं से सम्बद्ध मन्त्रों को भले ही विभूतिपरक मान लिया जाए गोपालोपासना के मन्त्र को विभूतिपरक नहीं मानना चाहिए। इस प्रकार स्वयं भगवान् के गोपालमन्त्र के अधिष्ठाता होने की सिद्धि हो जाने पर उस रूप में उन्हें (अर्थात् पुरुषोत्तम को) गोपालमन्त्रोपासना की विधि का उद्देश्य मानने तथा उक्त उपासना को भगवद्धर्म मानने में कोई बाधा नहीं है।

उत्तर में सिद्धान्ती का कहना है कि यद्यपि यह सच है कि गोपालमन्त्रोपासना सभी अभीष्ट फलों को देने वाली है किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वह भगवद्धर्मरूप भी है और उसके विधि-विधान में दोष हो जाने पर अनिष्ट नहीं होता। गोपालमन्त्रोपासना उपासनामार्गीय होने के कारण भगवद्धर्मरूप नहीं है और पुरुषोत्तम को उसके अधिष्ठाता के रूप में उसका उद्देश्य नहीं माना जा सकता जैसे कि कर्म के अङ्ग के रूप में किये जाने वाले भगवत्स्मरण को कर्ममार्गीय होने के कारण भक्तिरूप नहीं कहा जा सकता।

सिद्धान्ती गोपालमन्त्रोपासना को पुरुषोत्तमपरक या पुरुषोत्तमभक्तिरूप मानने में एक अन्य दोष दिखाता है।

और भी, गोपालोपासना में सुन्दरियों को वश में कर सकना आदि उस उपासना का फल कहा गया है, किन्तु पुरुषोत्तम की भक्ति का फल सुन्दरियों को वश में करना नहीं हो सकता क्योंकि यह फल अनर्थरूप है और इसे साक्षात् भगवान् की भक्ति का

'अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षजे' (भाग० १।७।६),
'तस्मान्निराशिषो भक्तिर्निरपेक्षस्य मे भवेत्' (भाग० ११।२०।३५)
इत्यादिवाक्यविरोधात् ।

फल मानने में **'साक्षात् अनर्थनिवृत्ति का हेतु भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति ही है'**[1] (भाग० १।७।६) तथा **'इसलिए मेरी भक्ति उसे ही प्राप्त होती है जो निष्काम और निरपेक्ष होता है'** (भाग० ११।२०।३५) इत्यादि वाक्यों—जिनमें भगवद्भक्ति को अनर्थों का उपशम करने वाली तथा निरपेक्ष व्यक्तियों द्वारा प्राप्य कहा गया है—का विरोध होगा ।

सिद्धान्ती के कथन का अभिप्राय यह है कि पूर्वपक्षी का यह कहना ठीक नहीं है कि 'सर्वाविशिष्ट होने से गोपालमन्त्रोपासना पुरुषोत्तमपरक या पुरुषोत्तमभक्तिरूप है' क्योंकि 'स्त्रीवशीकरणादिरूप अनर्थ फल देने वाली होने के कारण गोपालमन्त्रोपासना पुरुषोत्तमपरक या पुरुषोत्तमभक्तिरूप नहीं हो सकती ।'

पूर्वपक्षी के इस कथन के विरोध में कि 'सर्वाविशिष्ट और अनर्थों का उपशम करने वाला होने के कारण कर्म के अङ्गरूप में किया जानेवाला कर्ममार्गीय स्मरण भक्ति है', सिद्धान्ती का कहना है कि पूर्वपक्षी के उपर्युक्त अनुमान में दिया गया 'सर्वाविशिष्ट होने के कारण' यह हेतु स्वरूपासिद्ध है ।

'सर्वाविशिष्टत्व' हेतु को स्वरूपासिद्ध कहने का आशय यह है । कर्ममार्ग में

यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु ।
न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम् ॥

इत्यादि वाक्यों तथा पुरुषसूक्त से पूजन करने के विधान से सिद्ध होता है कि स्मरण, कीर्तन, वन्दन और अर्चन आदि प्रायः विष्णुविषयक ही होते हैं । अतः स्मरणीय होने की ही भाँति वन्दनीय भी भगवान् ही सिद्ध होते हैं । इस प्रकार कर्ममार्ग के अनुसार भगवत्प्रतिमा में भी प्राणप्रतिष्ठा होने पर भगवान् ही आविष्ट हो जाते हैं । किन्तु सिद्धान्ती का कहना है कि यदि प्राणप्रतिष्ठा की गयी भगवत्प्रतिमा को पुरुषोत्तमरूप मान लिया जाए तो शूद्र द्वारा प्रतिष्ठापित भगवन्मूर्ति में भी पुरुषोत्तम भगवान् के ही आविष्ट होने की बात माननी होगी और तब शूद्रप्रतिष्ठापित भगवत्प्रतिमा को भी पुरुषोत्तमरूप मानने के कारण उसकी वन्दना को सर्वाविशिष्ट स्वीकार करना होगा । परन्तु शूद्रप्रतिष्ठापित भगवत्प्रतिमा की वन्दना को

---

१. साक्षादनर्थनिवृत्तिहेतुः भक्तिरेव । दृष्टे सा लौकिकी, कर्म वेति तद्व्यावृत्त्यर्थमधोऽक्षज इति । (सुबो० १।७।६) ।

अतएव शूद्रप्रतिष्ठापितमूर्तौ ब्राह्मणनमस्कारनिषेधो धर्मशास्त्रे युज्यते,

'यः शूद्रस्थापितं लिङ्गं विष्णुं वा विनमेद् द्विजः।
स याति नरकं घोरं यावदाहूतसम्प्लवम्॥'

न हि ब्राह्मणानामीश्वरो न नमस्यः क्वचित्, 'किं पुनः ब्राह्मणाः पुण्याः' (गीता ९।३३) इति वाक्यात्।

सर्वाविशिष्ट मानने पर उन वाक्यों का विरोध होगा जिनमें ब्राह्मण को शूद्र प्रतिष्ठापित मूर्ति को प्रणाम करने से रोका गया है। इस विरोध का उपशम करने के लिए यह मान लेना उचित होगा कि उक्त प्रतिमादि में विष्णवन्तरावेश अर्थात् मन्त्राधिष्ठातृरूप एक अन्य ही रूप (जो पुरुषोत्तम से भिन्न है और उसका विभूतिरूप है) का आवेश होता है (देखिए ऊपर पृष्ठ ८–९)। इसी प्रकार, भगवत्प्रतिमादिविषयक कर्ममार्गीय स्मरण भी वन्दन की ही भाँति सर्वाविशिष्ट नहीं हो सकता अतः उपर्युक्त अनुमान में उपन्यस्त 'सर्वाविशिष्ट होने के कारण' यह हेतु स्वरूपासिद्ध है।

प्रतिपक्षी के द्वारा दिये गये अनुमान में उपन्यस्त हेतु को स्वरूपासिद्ध बताने के साथ ही सिद्धान्ती कहते हैं कि प्रतिपक्षी के 'कर्ममार्गीय विष्णुस्मरण आदि सर्वाविशिष्ट होने के कारण पुरुषोत्तमभक्तिरूप हैं' इस अनुमान के विरोध में अधोलिखित प्रत्यनुमान भी उपन्यस्त किया जा सकता है; 'कर्ममार्गीय विष्णुस्मरण आदि को कर्ममार्गीय वन्दन आदि की भाँति ही पुरुषोत्तमभक्तिरूप नहीं माना जा सकता क्योंकि उनके विषय स्वयं पुरुषोत्तम नहीं प्रत्युत उनके विभूतिरूप या मन्त्राधिष्ठातृदेवता होते हैं।'

इसीलिए धर्मशास्त्र के, **'जो द्विज शूद्र द्वारा प्रतिष्ठापित शिवलिङ्ग या भगवान् विष्णु की मूर्ति को प्रणाम करता है उसे प्रलयपर्यन्त घोर नरक में निवास करना पड़ता है'** इत्यादि वाक्यों में उपलब्ध होने वाला, शूद्र द्वारा प्रतिष्ठापित भगवन्मूर्ति के ब्राह्मण द्वारा नमस्कार किये जाने का निषेध भी युक्त ही है। क्योंकि ऐसा तो है नहीं कि कहीं भगवान् को ब्राह्मणों का नमस्य न माना गया हो अर्थात् जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीता के **'हे अर्जुन! मुझे आश्रय रूप में ग्रहण कर पापयोनि वाले (अर्थात् जिनके जन्म का कारण पाप है, ऐसे) स्त्री, शूद्र, वैश्य आदि भी परम गति को प्राप्त करते हैं फिर जो पुण्ययोनि ब्राह्मण हैं उनका तो कहना ही क्या है'** (गीता ९।३२–३३) इत्यादि वाक्यों से ज्ञात होता है, भगवान् ब्राह्मणों के भी सर्वदा सर्वत्र नमस्करणीय ही हैं।

तात्पर्य यह है कि स्त्रीवशीकरणादिरूप फल को अनर्थ रूप होने के कारण पुरुषोत्तमभक्ति का फल नहीं माना जा सकता, यह तो पुरुषोत्तम से भिन्न किसी

किञ्च, मन्त्राधीनत्वं तत्तद्देवताया उच्यते। पुरुषोत्तमस्तु,

'न साधयति मां योगो न साङ्ख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायः तपः त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥' (भाग० ११।१४।२०)
'न रोधयति मां योगो न साङ्ख्यं धर्म एव च।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा।
व्रतानि यज्ञाश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः॥' (भाग० ११।१२।१-२) इति।

मन्त्राधीन देवता की भक्ति का ही फल हो सकता है। इसीलिए शूद्र द्वारा प्रतिष्ठापित शिवलिङ्ग एवं विष्णुप्रतिमा आदि को उसमें अन्य देवता का सान्निध्य होने तथा उसके शूद्रकर्तृकदोषसंवलित होने के कारण सर्वोपास्य नहीं माना गया है। इसी लिए धर्मशास्त्र द्विजों को ऐसे शिवलिङ्ग या विष्णुप्रतिमा को नमस्कार न करने का आदेश देते हैं। यदि ऐसा न होता और शूद्रप्रतिष्ठापित प्रतिमा भी पुरुषोत्तम-रूप ही होती तो,

देवताप्रतिमां दृष्ट्वा यतिं दृष्ट्वा त्रिदण्डिनम्।
नमस्कारं न कुर्याच्चेत् प्रायश्चित्ती भवेन्नरः॥

इत्यादि कह कर भगवत्प्रतिमा को कहीं भी देख कर प्रणाम करने का आदेश देने वाले शास्त्र द्विजों को शूद्रप्रतिष्ठापित प्रतिमा आदि का नमस्कार करने से रोकने के बजाय उन्हें ऐसा न करने पर प्रायश्चित्त करने का ही आदेश देते।

इस प्रकार उपासना सम्बन्धी फल आदि का विचार कर मन्त्रोपासना एवं कर्ममार्गीय स्मरण, वन्दन आदि के भक्ति होने तथा भगवान् को उनसे सम्बद्ध विधियों का उद्देश्य मानने का खण्डन कर चुकने के बाद अब ग्रन्थकार यह दिखाने में प्रवृत्त होते हैं कि पुरुषोत्तम को मन्त्राधीन मानने का मत अनुपपन्न है और उन्हें भक्त्यधीन मानने का सिद्धान्त प्रमाणपुष्ट है। इस प्रकार मन्त्राधीन देवता और पुरुषोत्तम में महत्त्वपूर्ण भेद है और यह मन्त्राधिष्ठातृरूप—जैसा कि ऊपर (पृष्ठ ८-९ पर) कहा जा चुका है—पुरुषोत्तम का विभूतिरूप ही है, यह स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—

और भी, विभिन्न उपास्य देवताओं को मन्त्राधीन कहा गया है, किन्तु अधोलिखित वाक्यों (और इन्हीं के समान अन्य सहस्रों वाक्यों) में पुरुषोत्तम को भक्तिमात्राधीन (अर्थात् केवल भक्ति के ही अधीन) कहा गया है, अतः मन्त्राधीन देवता से पुरुषोत्तम भगवान् में महत्त्वपूर्ण वैलक्षण्य है, यह सदैव ध्यान में रखना चाहिए। जिन वाक्यों में पुरुषोत्तम को भक्तिमात्राधीन कहा गया है उनमें से कुछ ये हैं, **'हे उद्धव ! योगसाधन, सांख्य (ज्ञान), धर्मानुष्ठान, स्वाध्याय, तप और त्याग**

'नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥' (गीता ११।५३)
'भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुञ्च परन्तप॥' (गीता ११।५४)
इत्यादिवाक्यैः 'नायमात्मा' (कठोप० १।२।२३; मुण्ड० उप० ३।२।३)
इत्याद्युक्तश्रुत्या च न मन्त्रोपासनाद्यधीन इति महद्वैलक्षण्यम्।

'अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥
नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना।
श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा॥
ये दारागारपुत्राप्तप्राणान् वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥

मुझे प्राप्त करने के लिए उतने समर्थ साधन नहीं हैं जितनी कि अनुदिन बढ़ने वाली अनन्य प्रेममयी मेरी भक्ति' (भाग० ११।१४।२०)। 'हे उद्धव ! योगसाधन, सांख्य (ज्ञान), धर्मानुष्ठान, स्वाध्याय, तप, त्याग, इष्टापूर्त, दक्षिणा, व्रत, यज्ञ, वेद, तीर्थ और यम-नियम भी मुझे वश में करने में समर्थ नहीं हैं' (भाग० ११।१२।१-२)।

'हे अर्जुन ! मुझे जिस रूप में तुमने देखा है इस रूप में मैं न तो वेदों द्वारा देखा जा सकता हूँ और न तप, दान या यज्ञादि द्वारा ही। अनन्य भक्ति के द्वारा मुझे इस रूप में जाना जा सकता है, देखा जा सकता है और मुझमें प्रवेश भी किया जा सकता है (गीता ११।५३-५४)। इस प्रकार के स्मृतिवाक्यों तथा ऊपर (पृष्ठ ३ पर) उद्धृत श्रुति के 'इस आत्मा (अर्थात् परमात्मा या ब्रह्म) को न तो प्रवचन से प्राप्त किया जा सकता है, न मेधा से और न बहुश्रुतता से ही। यह तो जिसको वरण करता है, उसी को प्राप्त हो सकता है (कठोप० १।२।२३, मुण्ड० उप० ३।२।३) इत्यादि वाक्य से ज्ञात होता है कि पुरुषोत्तम मन्त्रोपासनादि के अधीन नहीं हैं। इस प्रकार पुरुषोत्तम में मन्त्राधीन देवताओं की अपेक्षा महान् वैलक्षण्य है।

'हे ब्राह्मण ! मैं सर्वथा भक्तों के अधीन हूँ। निरपेक्ष सरल-हृदय भक्तों द्वारा मेरा हृदय प्रेमपूर्वक वश में कर लिया गया है और मैं अस्वतन्त्र सा हो गया हूँ। भक्तजन मुझसे प्रेम करते हैं और वे भी मुझे अत्यधिक प्रिय हैं। हे ब्राह्मण ! अपने उन साधुस्वभाव भक्तों—जिनकी मैं परम गति या एकमात्र आश्रय हूँ—को छोड़कर, तो मैं अपने आपको या अपनी नित्य अर्द्धाङ्गिनी लक्ष्मी को भी नहीं चाहता हूँ। मेरे जो

मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शिनः ।
वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा ॥'

(भाग० ९।४।६३–६६) इत्यादिभिः,

'नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वासुरात्मजाः ।
प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता ॥
न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च ।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बनम् ॥' (भाग०७।७।५१-५२)

इत्यादिभिः, 'भक्त्याहमेकया ग्राह्यः' (भाग०११।१४।२१)
'भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाय' (भाग० ७।९।९)

इत्यादिवाक्यसहस्रैः भक्तिमात्राधीनत्वोक्त्या च ततो वैलक्षण्यं पुरुषोत्तमेऽवधेयम् ।

भक्त स्त्री, गृह, पुत्र, मान्य पुरुषों, प्राणों, धन, इहलोक एवं परलोक सभी को छोड़कर (अर्थात् सभी में आसक्ति छोड़कर) मेरी शरण में आ गये हैं, मैं उन्हें छोड़ने की बात भी कैसे सोच सकता हूँ ? जिस प्रकार अनन्यपरायण पतिप्रेमवती स्त्रियाँ अपने साधुस्वभाव निष्काम पति को भी प्रेम से वश में कर लेती हैं, उसी प्रकार मुझमें अनन्यभाव से हृदय स्थिर कर देने वाले और इसीलिए सभी पदार्थों को मदात्मक (अर्थात् भगवदात्मक) देखने वाले समदर्शी साधुस्वभाव भक्त अपनी अनन्यप्रयोजन-वाली भक्ति से मुझे वश में कर लेते हैं (भाग०९।४।६३-६६) इत्यादि वाक्यों तथा प्रह्लाद के, 'हे असुरपुत्रा ! भगवान् मुकुन्द को प्रसन्न कर सकने में ब्राह्मणत्व, देवत्व, ऋषित्व, सदाचारिता, बहुश्रुतता, दान, तप, यज्ञ, शारीरिक-मानसिक शुचिता तथा व्रत कुछ भी समर्थ नहीं हैं; भगवान् हरि तो केवल निर्मल (अर्थात् अनन्यप्रयोजनवाली) भक्ति से ही प्रसन्न होते हैं; और ऐसी भक्ति के अभाव में द्विजत्व आदि अन्य सारे साधन विडम्बनामात्र (अर्थात् अकिञ्चित्कर) हैं' (भाग०७।७।५१–५२) इत्यादि वाक्यों, स्वयं भगवान् के 'मैं केवल अनन्यप्रयोजनवाली भक्ति के ही द्वारा प्राप्य हूँ' (भाग०११।१४।२१) इत्यादि वाक्यों तथा 'भगवान् निःसाधन गजेन्द्र पर भी उसकी अनन्य भक्तिमात्र से प्रसन्न हो गये' (भाग०७।९।९) इत्यादि सहस्रों वाक्यों में भगवान् के भक्तिमात्राधीन होने का कथन उपलब्ध होने के कारण पुरुषोत्तम में मन्त्राधीन देवता से बहुत महत्त्वपूर्ण वैलक्षण्य है, यह ध्यान में रखना चाहिए ।

---

१. श्रीमद्भागवत की इन पङ्क्तियों का गीताप्रेससंस्करणानुसारी पाठान्तर यह है,
ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम् ।
···वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा ॥ (भाग०९।४।६५-६६)।

ननु मन्त्रादेरपि भगवदीयत्वात् तत्सम्बन्धि सर्वं भक्तिरूपमेव इति नोक्तानुपपत्तिरिति चेत्, हन्त इदं पाण्डुरत्मृपानीयमेव शुनः तक्रम् इत्याभाणकमनुहरति। ननु, कथमेवम्? इत्थम्। श्रीमदुद्धवपृष्टेन यदुवंशोदयाचलचूडामणिना पूजामार्गं निरूप्य,

---

मन्त्रोपासनादि को भक्ति मानने वाले पूर्वपक्षी का कहना है कि,

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय! यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥ (गीता ९।२३),
यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥ (गीता ७।२१),
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः (गीता १५।१५),

इत्यादि वाक्यों में यजन, अर्चन, ज्ञान एवं उपासना सभी के भक्तिफलरूप श्रीकृष्ण से सम्बद्ध होने का कथन उपलब्ध होने के कारण मन्त्रोपासनादि को भक्तिरूप मानना उचित ही है। अतः भगवान् को मन्त्राधीन मान लेने में भी कोई दोष नहीं है।

पूर्वपक्षी का कहना है कि (परब्रह्म को ही विषय बना कर पठित होने के कारण) मन्त्रादि भी भगवदीय ही हैं और मन्त्रादि के भी भगवदीय होने के कारण उनसे (अर्थात् मन्त्र से) सम्बद्ध (पुरश्चरण, पूजा आदि) सब कुछ भक्तिरूप ही है, अतः उपर्युक्त अनुपपत्ति (अर्थात् सिद्धान्ती द्वारा निर्दिष्ट उपास्य में पुरुषोत्तमत्व की अनुपपत्ति अथवा पुरुषोत्तम को उपासनादि की विधियों का उद्देश्य मानने की अनुपपत्ति) के लिए कोई अवकाश नहीं है। सिद्धान्ती के अनुसार पूर्वपक्षी का यह कथन, 'खड़िया मिट्टी का पानी ही कुत्ते के लिए तक्र (मट्ठा) है' इस लोकोक्ति का अनुसरण करता है।

सिद्धान्ती का तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षी उपासना और भक्ति के भेद को न समझ सकने के कारण उपासना को ही भक्ति मान बैठा है, यद्यपि श्रीमद्भागवतादि में दोनों के भेद का स्पष्ट निरूपण उपलब्ध होता है।

पूर्वपक्षी के, 'सिद्धान्ती यह कैसे कहता है कि जैसे कुत्ता अज्ञानवश खड़िया मिट्टी के पानी को ही तक्र समझ लेता है वैसे ही पूर्वपक्षी भी अविवेक के कारण उपासना को ही भक्ति समझ बैठा है?' इस प्रश्न का उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कहता है कि अधोलिखित विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पूजादि रूप उपासना और भक्ति में भेद होने पर भी, पूर्वपक्षी पूजादि को ही भक्ति समझ बैठा है।

श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध में श्रीउद्धव के पूछने पर यदुवंशरूप

'प्रतिष्ठया सार्वभौमं सद्मना भुवनत्रयम् ।
पूजादिना ब्रह्मलोकं त्रिभिः मत्सार्ष्टितामियात् ॥'(भाग०११।२७।५२)
इति प्रत्येकसमुदायाभ्यां फलभेदं निरूप्य,
'मामेव नैरपेक्ष्येण भक्तियोगेन विन्दति ।
भक्तियोगं स लभत एवं यः पूजयेत माम् ॥' (भाग०११।२७।५३)

इति निरूपितम् । अत्र पूर्वार्द्धे एवकारेण पूर्वोक्तपूजाफलव्यवच्छेदपूर्वकं स्वस्य भक्तियोगफलत्वमुक्तम् इति फलभेदादपि स्वरूपभेद आयात्येव । उत्तरार्द्धे च पूजायाः साधनत्वं भक्तेश्च फलत्वञ्च इति स्पष्ट एव पूजादेः भक्तेर्भेदः ।

उदयाचल के सूर्य भगवान् श्रीकृष्ण ने पूजामार्ग का निरूपण करते हुए 'मेरी मूर्ति की प्रतिष्ठा कराने से व्यक्ति को पृथ्वी के चक्रवर्ती राज्य की, मन्दिर बनवाने से त्रिलोकी के राज्य की और पूजा आदि (की व्यवस्था) करने से ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है, तथा उपर्युक्त तीनों को करने से सकाम भक्त मेरे समान ऐश्वर्य को प्राप्त करता है' (भाग० ११।२७।५२) इत्यादि कह कर भगवन्मूर्ति की प्रतिष्ठा कराने, भगवान् के मन्दिर का निर्माण कराने और भगवान् की पूजा (की व्यवस्था कराने) का अलग-अलग फल बता कर, तीनों को करने वाले सकाम भक्त को मिलने वाले (उपर्युक्त तीनों फलों से भिन्न समानैश्वर्यप्राप्तिरूप) फल का उल्लेख करते हुए यह बताया है कि 'जो व्यक्ति पूर्वोक्त प्रकार से मेरी पूजा करता है वह भक्तियोग को प्राप्त करता है और उस निरपेक्ष अर्थात् फलाकाङ्क्षाविरहित शुद्धस्वरूपमात्रनिष्ठ भक्तियोग से वह भक्त मुझे ही प्राप्त करता है' (भाग० ११।२७।५३) इस वाक्य के पूर्वार्द्ध ('मामेव नैरपेक्ष्येण भक्तियोगेन विन्दति'—भाग० ११।२७।५३) में आये 'एव' पद से पूर्वोक्त पूजा के फल से भक्तियोग के फल को पृथक् करते हुए भगवान् ने स्वयं अपने को (अर्थात् अपनी प्राप्ति को) ही भक्तियोग का फल बताया है । इस प्रकार पूजा और भक्ति के फलों में भेद होने से भी उनके स्वरूप के परस्पर-भिन्न होने का ज्ञान होता है ।

उपर्युक्त भगवद्वाक्य के पूर्वार्द्ध में पूजा और भक्ति के भेद के अर्थोपात्त होने से सन्तुष्ट न होने वाले दुराग्रही पूर्वपक्षी के सन्तोष के लिए ग्रन्थकार उत्तरार्द्ध में उसका (अर्थात् पूजा और भक्ति के भेद का) शब्दोपात्त होना (अर्थात् शब्दतः भी प्रतिपादित होना) बताते हुए कहते हैं—

और उपर्युक्त वाक्य के उत्तरार्द्ध ('भक्तियोगं स लभते एवं यः पूजयेत माम्'—भाग० ११।२७।५३) में पूजा को साधन तथा भक्ति को फल बताया गया है, अतः पूजा आदि से भक्ति का भेद (अर्थात् भिन्न होना) स्पष्ट ही है ।

भगवत्स्वरूपातिरिक्तफलके कर्मणि ज्ञाने वा न भक्तित्वम्, भक्तौ च न स्वरूपातिरिक्तफलकत्वम्। अतो न पूजादिः भक्तिः इति निरूपणार्थम् एव 'मामेव' (भाग० ११।२७।५३) इत्यादि निरूपितम् इति वेदितव्यम्। अन्यथा पूजाप्रकरणे तन्निरूपणमसङ्गतं स्यात्।

भगवत्स्वरूप के अतिरिक्त फल देने वाले कर्म या ज्ञान में भक्तित्व नहीं है और भक्ति से भगवत्स्वरूप के अतिरिक्त किसी अन्य फल की प्राप्ति नहीं होती है, अतः (भगवत्स्वरूपप्राप्तिरूप फल के केवल निरपेक्ष भक्तियोग से ही प्राप्य होने के कारण) पूजा आदि भक्ति नहीं (कहे जा सकते) हैं; यह निरूपित करने के लिए ही भगवान् ने उपर्युक्त प्रसङ्ग में, **'निरपेक्ष अर्थात् फलाकाङ्क्षारहित शुद्धस्वरूपमात्रनिष्ठ भक्तियोग से भक्त मुझे ही प्राप्त करता है' (भाग० ११।२७।५३)** इत्यादि वाक्य द्वारा भगवत्स्वरूपात्मक फल के केवल निरपेक्ष भक्ति से ही प्राप्य होने का निरूपण या प्रतिपादन किया है, ऐसा समझना चाहिए, अन्यथा भगवान् द्वारा पूजा का निरूपण करने के प्रसङ्ग में भक्ति का निरूपण किया जाना असङ्गत हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि यदि पूजा आदि को भी भक्ति मानना भगवान् को अभिमत होता तो वे यही कहते कि 'पूजा आदि द्वारा व्यक्ति मुझे प्राप्त करता है।' ऐसी स्थिति में पूजादि साधनों का निरूपण करने के प्रसङ्ग में उनके द्वारा प्राप्य तत्तत् फलों का उल्लेख करते हुए भगवान् का पृथक् रूप से यह कहना असङ्गत हो जाता है कि 'निरपेक्ष भक्तियोग से भक्त मुझे ही प्राप्त करता है।'

इस प्रकार पूजा और भक्ति के स्वरूप में भेद सिद्ध हो जाने पर, उपासनामार्गीय पूजा आदि के भक्ति न होने (अर्थात् भक्ति से भिन्न होने) के कारण भगवान् को पूजादि की विधि का साक्षात् उद्देश्य नहीं कहा जा सकता।

सिद्धान्ती के 'पूजा और भक्ति के फल भिन्न-भिन्न हैं अतः उनके स्वरूप में भी भेद होना ही चाहिए और इसीलिए पूजा को भक्ति नहीं कहा जा सकता' इस कथन के विरोध में पूर्वपक्षी का कहना है कि फलभेद को स्वरूपभेद का आपादक नहीं माना जा सकता। पूजा और भक्ति के फलों के परस्पर-भिन्न होने मात्र के आधार पर उनके परस्पर-भिन्न होने का अनुमान करना ठीक नहीं है क्योंकि स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के ही,

> **सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा।**
> **स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद्यदि वाञ्छति॥** (भाग० ११।२०।३३)

इत्यादि वाक्यों में भक्ति के अन्य फलों (अर्थात् भागवत ११।२७।५३ में उल्लिखित भक्ति के भगवत्स्वरूपप्राप्तिरूप फल से भिन्न फलों) का भी उल्लेख है।

'यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत् ।
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि ॥
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा ।' (भाग० ११।२०।३२-३३)

इति तु भक्तिसाध्यं नान्येन सिद्ध्यत्यन्यसाध्यं भक्तेरानुषङ्गिकम् इति कथनार्थम्, कल्पतरुस्वभावत्वज्ञापनाय चोक्तम्, अग्रे

'स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद् यदि वाञ्छति ॥' (भाग० ११।२०।३३)

इति वचनात् । तेन भक्तिरेव कार्या नान्यद् इति फलितं भवति ।

जिस प्रकार एक ही भक्ति के परस्पर-भिन्न फल हो सकते हैं उसी प्रकार पूजा और भक्ति के भी फल परस्पर-भिन्न हो सकते हैं, किन्तु इतने से ही उनके स्वरूपतः भिन्न होने की सिद्धि नहीं की जा सकती ।

पूर्वपक्षी की इस आशङ्का का निराकरण करते हुए सिद्धान्ती कहते हैं कि यदि केवल भक्ति किसी फल को दे सकने में असमर्थ होती तो उसके सहायक के रूप में कर्म आदि के भक्ति कहे जाने की आशङ्का की जा सकती थी अर्थात् किसी फल-विशेष को प्राप्त करा सकने के लिए भक्ति की सहायता करने वाले कर्म आदि को भक्ति कहने की सम्भावना की जा सकती थी, किन्तु ऐसा है नहीं क्योंकि भक्ति कल्पतरु के समान है और उन सभी फलों को दे सकती है जो विभिन्न साधनों से प्राप्त किये जा सकते हैं ।

भगवान् के, **'मेरा भक्त, मेरी भक्ति द्वारा उन सभी पदार्थों को अनायास ही और शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है जो धर्म, तप, ज्ञान, वैराग्य, योग, दान एवं अन्य कल्याण-साधनों द्वारा प्राप्त होते हैं'** (भाग० ११।२०।३२–३३) इत्यादि कथन का अभिप्राय भक्ति के अन्य (अर्थात् भाग० ११।२७।५३ में प्रतिपादित भगवत्स्वरूप-प्राप्तिरूप फल से भिन्न) फलों का निरूपण करना नहीं प्रत्युत यह प्रतिपादित करना है कि भक्ति से प्राप्त होने वाला फल किसी अन्य साधन द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता यद्यपि अन्य साधनों द्वारा प्राप्त होने वाला फल भक्ति का आनुषङ्गिक है । और जैसा कि परवर्ती, **'यदि मेरा भक्त स्वर्ग, मोक्ष या मेरे लोक में निवास की प्राप्ति की इच्छा करे तो उसे भी (मेरी भक्ति से ही) प्राप्त कर लेता है'** (भाग० ११।२०।३३) इत्यादि वाक्यों से सूचित होता है, उपर्युक्त वाक्य का प्रयोजन भक्ति के कल्पतरुस्वभाव होने का प्रतिपादन करना है ।

तात्पर्य यह है कि यदि **'यत्कर्मभिः'** (भाग० ११।२०।३२–३३) इत्यादि वाक्य का अभिप्राय भक्ति के कल्पतरु के समान होने का प्रतिपादन करना न होता तो भगवान् **'स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद् यदि वाञ्छति'** (भाग० ११।२०।३३) इत्यादि न कहते ।

'दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः।
श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते ॥'(भाग०१०।४७।२४)
इतिवाक्याच्च न मन्त्रजपादेर्भक्तित्वम्। भगवदर्थमेव कृता भगवत्पूजा

भक्ति को कल्पतरुस्वभाव कहने का अभिप्राय यह है कि **'उद्यतस्य हि कामस्य प्रतिवादो न शस्यते'** इत्यादि अभियुक्तोक्ति को दृष्टिगत कर तत्तद् इच्छाओं की पूर्ति के लिए उत्कण्ठा होने पर भी उनकी पूर्ति के लिए अन्य साधनों का अवलम्बन न करना चाहिए प्रत्युत कर्दम की भाँति भक्ति ही करनी चाहिए। यह बताते हुए ग्रन्थकार कहते हैं.

इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि भक्ति ही करणीय है, अन्य कुछ नहीं। पूर्वपक्षी के पूर्वोक्त (ऊपर पृष्ठ १९–२०) आक्षेप के समाधान में सिद्धान्ती के उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह है कि **'यत्कर्मभिः'** (भाग० ११।२०।३२-३३) इत्यादि श्लोकों में निरूपित फलों का उल्लेख भगवान् ने अपनी भक्ति के आनुषङ्गिक फल के रूप में किया है और **'मामेव नैरपेक्ष्येण भक्तियोगेन विन्दति'** (भाग० ११।२७।५३) इत्यादि वाक्य में स्वरूपप्राप्तिरूप फल का उल्लेख अपनी भक्ति के मुख्यफल के रूप में; अतः पूजादि के मुख्यफल और भगवद्भक्ति के मुख्यफल के परस्परभिन्न होने के कारण दोनों के फलों में भेद के आधार पर उनके स्वरूप में भेद होने की कल्पना अनुपपन्न नहीं है।

पूजा और भक्ति के फलों के परस्परभिन्न होने के आधार पर उन्हें भिन्न मान भी लिया जाए अर्थात् पूजा भक्ति नहीं है यह स्वीकार भी कर लिया जाए तो भी मन्त्रजपादि को ही भक्ति क्यों न कहा जाए? पूर्वपक्षी की इस आशङ्का का समाधान करने के लिए सिद्धान्ती मन्त्रजपादि को भक्ति मानने के बाधक वाक्य का उल्लेख करते हुए बताते हैं कि पूजादि की भाँति ही मन्त्रजपादि को भी भक्ति नहीं कहा जा सकता।

और श्रीउद्धव के गोपियों के प्रति कहे गये, 'तुलापुरुषादिरूप दान, (एकादशी आदि के) व्रत, (कृच्छ्रादिरूप) तप, होम (अग्निहोत्रादि), जप, स्वाध्याय (वेदाध्ययनादिरूप), संयम (योगादिरूप) एवं (कूपारामनिर्माणादिरूप) अन्य श्रेयःसाधनों के द्वारा श्रीकृष्ण की भक्ति की सिद्धि या प्राप्ति होती है अर्थात् इन सब साधनों का साध्य भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति ही है' (भाग० १०।४७।२४) इत्यादि वाक्य से स्पष्ट है कि मन्त्रजप आदि को भक्ति नहीं कहा जा सकता, वे तो भक्ति की प्राप्ति के साधन मात्र हैं।

भक्तिर्भविष्यति इत्याशङ्कानिरासाय उत्तरार्द्धे तादृश्यास्तस्यास्तत्साधनत्वम् उक्तम्, अन्यथा 'पूजादिना' (भाग०११।२७।५२) इत्यादिना विरोधः स्यात्।

भगवान् कृष्ण द्वारा उद्धव से कहे गये,

भक्तियोगः पुरैवोक्तः प्रीयमाणाय तेऽनघ ।
पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणं परम् ॥
श्रद्धामृतकथायां मे शश्वन्मदनुकीर्तनम् ।
परिनिष्ठा च पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम ॥
आदरः परिचर्यायां सर्वाङ्गैरभिवन्दनम् ।
मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः ॥
मदर्थेष्वङ्गचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम् ।
मय्यर्पणञ्च मनसः सर्वकामविवर्जनम् ॥
मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च ।
इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद् व्रतं तपः ॥
एवं धर्मैर्मनुष्याणाम् उद्धवात्मनिवेदिनाम् ।
मयि सञ्जायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते ॥ (भाग०११।१९।१९-२४)

इत्यादि वाक्यों में 'अङ्गचेष्टा' पद से पूजा का भी ग्रहण सम्भव होने के कारण भगवदर्थ की गयी पूजा को भक्ति मान लेने की आशङ्का होती है। इस आशङ्का का निराकरण करते हुए सिद्धान्ती कहते हैं कि भगवदर्थ की जाने वाली पूजा भी भक्ति का साधनमात्र है, स्वयं भक्ति नहीं।

भगवदर्थ ही की जानेवाली भगवत्पूजा को भक्ति कहा जा सकेगा इस आशङ्का का निराकरण करने के लिए भगवान् द्वारा कहे गये 'मामेव नैरपेक्ष्येण भक्तियोगेन विन्दति' (भाग०११।२७।५३) इत्यादि श्लोक के उत्तरार्द्धरूप 'भक्तियोगं स लभते एवं यः पूजयेत माम्' (भाग० ११।२७।५३) इत्यादि वाक्य में, भगवदर्थ की जाने वाली पूजा को भक्ति का साधन कहा गया है। अन्यथा अर्थात् भगवदर्थ की जानेवाली पूजा को भक्ति का साधन न मानने पर 'पूजादिना ब्रह्मलोकम्' (भाग०११।२७।५२) इत्यादि वाक्य से विरोध होगा।

मूलग्रन्थ के 'उत्तरार्द्धे' पद के अर्थ के सम्बन्ध में श्रीपुरुषोत्तम अपनी भक्तितरङ्गिणीतीर्थ नामक टीका में कहते हैं कि यद्यपि,

मामेव नैरपेक्ष्येण भक्तियोगेन विन्दति ।
भक्तियोगं स लभते एवं यः पूजयेत माम् ॥ (भाग०११।२७।५३)

इत्यादि श्लोक के उत्तरार्द्ध में प्रयुक्त 'एवम्' पद से पूजा के भी निरपेक्ष या

एतेन लोके शास्त्रे वा क्वचित् तादृश्यां तस्यां भक्तिपदप्रयोग औपचारिक इति ज्ञापितम् ।

भगवदर्थ होने की प्राप्ति होती है फिर भी यहाँ 'भगवदर्थकृता पूजा' ऐसा अर्थतः अभिप्रेत होने पर भी शब्दतः नहीं कहा गया है अतः स्वयं ग्रन्थकार के ही पुत्र भक्तितरङ्गिणीकार श्रीरघुनाथ ने अपनी टीका में मूलग्रन्थ के 'उत्तरार्द्धे' पद का अर्थ भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के ही उन्नीसवें अध्याय में भगवान् द्वारा उद्धव से कहे गये उस वाक्य का उत्तरार्द्ध किया है जिसमें भगवदर्थ की जाने वाली पूजा का शब्दतः या कण्ठतः उल्लेख कर उसे भक्ति का साधन बताया गया है[1] ।

भगवदर्थ की जाने वाली पूजा—जिसे सिद्धान्ती भक्ति नहीं प्रत्युत उसका साधनमात्र मानते हैं—के लिए अनेक स्थलों पर 'भक्ति' पद का प्रयोग उपलब्ध होता है, उसकी उपपत्ति क्या होगी ? इस आशङ्का का निराकरण करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं,

इससे यह ज्ञात होता है कि लोकव्यवहार में या शास्त्रों में जहाँ कहीं भी भगवदर्थ की जाने वाली पूजा—जो भक्ति का साधन है—के लिए 'भक्ति' पद का प्रयोग किया जाता है वह औपचारिक है ।

'भक्तियोगं स लभते एवं यः पूजयेत माम्' (भाग० ११।२७।५३) इत्यादि वाक्य में पुरुषोत्तम को पूजा का विषय कहा गया है अतः उन्हें अर्चन की विधि का उद्देश्य मानना चाहिए और ऐसी स्थिति में सिद्धान्ती का (ऊपर पृष्ठ २ पर) यह कहना ठीक नहीं है कि पुरुषोत्तम अर्चनादि की विधि से अस्पृष्ट हैं । इस आशङ्का का उल्लेख करते हुए सिद्धान्ती इसका यह समाधान प्रस्तुत करते हैं कि अन्यथानुपपत्ति के कारण यहाँ लक्षणा का आश्रय लेकर यह अर्थ करना चाहिए कि अर्चनादि का विषय साक्षात् पुरुषोत्तम नहीं प्रत्युत उनका विभूतिरूप है ।

१—उत्तरार्द्धपदस्य सन्दिग्धत्वाट्टीकायां तदर्थमाहुः, **'एवं धर्मैः'** (भाग० ११। १९।२४) इत्यादि । यद्यपि **'एवं यः पूजयेत माम्'** (भाग० ११।२७।५३) इत्यत्र **'एवम्'** इत्यनेन पूर्वार्द्धोक्तभक्त्यतिदेशान्नैरपेक्ष्यप्राप्तौ पूजाया अपि भगवदर्थत्वं प्राप्यते, तथापि न कण्ठोक्तम्, ऊनविंशाध्यायसन्दर्भे (भाग० ११।१९।१९–२४) तु कण्ठोक्तम्, अत एवमुक्तम् । (तीर्थ, पृष्ठ २९) । श्रीरघुनाथजी लिखते हैं, **"उत्तरार्द्धे='एवं धर्मैर्मनुष्याणाम्' (भाग० ११।१९।२४) इत्यत्र"–भक्तितरङ्गिणी, पृष्ठ २९)** ।

न च, 'माम्' (भाग० ११।२७।५२) इति पदेन पूजाया अपि विषयः पुरुषोत्तम एव इति वाच्यम्, विभूतिरूपस्यापि भगवद्रूपत्वात् तथा उक्तम्। पुरुषोत्तमत्वे बाधकम् उक्तमेव 'मन्त्रशास्त्रे' इत्यादिना। अन्यफलाद्यनुसन्धान-राहित्यपूर्वकं भगवद्भावनायां क्रियमाणायां पुरुषोत्तमावेशोऽप्यन्तःकरणे पूज्ये च भवतीति ज्ञापनाय वा 'माम्' (भाग०११।२७।५२) इत्युक्तम्।

अत एव भक्तिस्तया फलिष्यति। 'यमेवैष वृणुते' (कठोप० १।२।२३;

पूर्वपक्षी का यह कहना भी ठीक नहीं है कि "भगवान् के 'एवं यः पूजयेत माम्' (भाग० ११।२७।५२) इत्यादि वाक्य में 'माम्' (अर्थात् मुझको) इस पद के द्वारा यह सूचित होता है कि पूजा के भी विषय पुरुषोत्तम ही हैं।" जैसा कि ऊपर पृष्ठ आठ पर कहा जा चुका है पूजा के विषय साक्षात् पुरुषोत्तम नहीं होते अपितु उनका विभूतिरूप होता है। यह विभूतिरूप भी भगवान् का ही एक रूप होता है, इसीलिए भगवान् ने कहा है, 'एवं यः पूजयेत माम्' (भाग० ११।२७।५२) अर्थात् 'जो इस प्रकार से मेरी पूजा करता है।' पूजा के विषय को विभूतिरूप न मान कर साक्षात् पुरुषोत्तरूप मानने में क्या बाधा है यह हम ऊपर 'किन्तु मन्त्रशास्त्र में कहा जाता है' इत्यादि वाक्यों में बता ही चुके हैं (देखिए, ऊपर पृष्ठ ८-१४)।

सम्भव है यहाँ लक्षणा को अनुपपन्न माननेवाले प्रतिपक्षी को लक्षणा से अर्थ करने से सन्तोष न हो यह सोचकर ग्रन्थकार भगवान् के 'एवं यः पूजयेत माम्' (भाग० ११।२७।५२) इत्यादि वाक्य में प्रयुक्त 'माम्' इस द्वितीयान्त पद के द्वारा भगवान् को पूजन का कर्म कहे जाने की प्रकारान्तर से व्याख्या करते हैं।

अथवा भगवान् द्वारा यहाँ प्रयुक्त 'माम्' पद का अभिप्राय यह ज्ञापित करना है कि अन्य फलों की अपेक्षा न रखते हुए भगवान् की भावना करने पर अन्तःकरण तथा पूजा के विषय में पुरुषोत्तम का आवेश हो जाता है।

इस प्रकार लक्षणा न मानने पर भी पुरुषोत्तम को अर्चन आदि का साक्षात् उद्देश्य न मान कर आवेश द्वारा उद्देश्य मानना चाहिए और ऐसा मान लेने पर उन्हें अर्चनादि की विधि से अस्पृष्ट मानने के सिद्धान्त का विरोध न होगा।

द्वितीयान्त 'माम्' पद से पूजा के कर्म या उद्देश्य के रूप में पुरुषोत्तम नहीं प्रत्युत आवेश ही अभिप्रेत है इसकी पुष्टि इससे होती है कि यहाँ पूजा का फल भक्तिप्राप्ति बताया गया है पुरुषोत्तमप्राप्ति नहीं।

यहाँ पुरुषोत्तम की साक्षात्रूप से नहीं प्रत्युत आवेश द्वारा निरपेक्ष पूजा का उल्लेख है और इसीलिए उससे भक्तिरूप फल की प्राप्ति होने का प्रतिपादन है।

मुण्ड० उप० ३।२ ३) इति श्रुतेः तदैव तद्वरणात्। अत्र अधिकारिभेदेन पूजाफलभेदोक्त्या **'यमेव'** (कठोप० १।२ २३; मुण्ड० उप० ३।२।३) इति श्रुतौ कर्मज्ञानभक्तिषु निःशङ्कं फलार्थिप्रवृत्तिरनुपपन्ना इत्यनुपपत्तिर्निरस्ता वेदितव्या। कर्मादित्रिविधिषु विविधफलश्रवणात्तत्तत्फलरागवांस्तत्र तत्र यतिष्यत इत्युपपत्तेः।

इस प्रकार यहाँ पूजा का भक्तिप्राप्तिरूप जो फल बताया गया है उसी से यह ज्ञात होता है कि इस पूजा के विषय साक्षात् पुरुषोत्तम नहीं प्रत्युत आविष्ट-पुरुषोत्तम हैं अन्यथा जिस प्रकार इसी श्लोक के पूर्वार्द्ध में पुरुषोत्तम की निरपेक्ष भक्ति का फल पुरुषोत्तमप्राप्ति बताया गया है वैसे ही यहाँ भी पुरुषोत्तमप्राप्ति को ही फल कहा गया होता।

पूर्वपक्षी का कहना है कि यदि पुरुषोत्तम पूजा के उद्देश्य के रूप में भी उससे सम्बद्ध नहीं हैं तो फिर भावना करने पर उनका आवेश भी कैसे हो सकता है ? इस आशङ्का का समाधान करते हुए सिद्धान्ती कहते हैं कि,

जैसा कि श्रुति के **'यह जिसको वरण करता है'** (कठोप० १।२।२३; मुण्ड० उप० ३।२।३) इत्यादि वाक्य से ज्ञात होता है, निरपेक्ष पुरुषोत्तमभावनात्मक पूजन करने के अव्यवहित पूर्वकाल में ही उस पूजन करने वाले के भगवान् द्वारा वरण कर लिये जाने से भगवदावेश की उपपत्ति हो जाती है।

सिद्धान्ती के कथन का तात्पर्य यह है कि निरपेक्ष पुरुषोत्तमभावना या भगवत्पूजन करने की इच्छा रूप कार्य से उसके कारण के रूप में उसके अव्यवहित पूर्वकाल में अर्थात् तुरन्त पहले होने वाले भगवत्कर्तृक वरण का अनुमान होता है और उसी से भगवदावेश की व्याख्या भी हो जाती है।

प्रतिपक्षी, **'यह जिसको वरण करता है'** (कठोप० १।२।२३, मुण्ड० उप० ३।२।३) इत्यादि श्रुतिवाक्य में, कर्म, ज्ञान एवं भक्ति के फलों की कामना रखने वालों की कर्म, ज्ञान एवं भक्ति में निःशङ्क प्रवृत्ति अनुपपन्न होने की जो अनुपपत्ति बताते हैं, उसका निरास श्रीमद्भागवत के अधिकारी-भेद से पूजा के फलों में भेद होने के उपर्युक्त कथन से हो गया समझना चाहिए। विभिन्न कर्मों, ज्ञान एवं भक्ति आदि के निरूपक शास्त्रीय वचनों में ही उनके विभिन्न फलों का भी उल्लेख होने के कारण, उन-उन फलों में अनुरक्त व्यक्ति उन फलों को देने वाले कर्म आदि में प्रवृत्त होंगे और इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं है।

इस प्रकार कर्म, ज्ञान एवं भक्ति के फलों की कामना रखने वालों की

कर्म, ज्ञान एवं भक्ति में निशःङ्क प्रवृत्ति उपपन्न ही है क्योंकि **'यमेवैष'** (**कठोप० १।२।२३; मुण्ड० उप० ३।२।३**) इत्यादि श्रुतिवाक्य में वरणसाध्य आत्मलाभ को ही बताया गया है (कर्म, ज्ञान एवं भक्ति से प्राप्य फलों के लाभ को नहीं)।

इस वाक्य का अर्थ स्पष्ट करते हुए भक्तितरङ्गिणीकार श्रीरघुनाथ कहते हैं कि श्रीमद्भागवत के उपर्युक्त श्लोकों (भाग० ११।२७।५२-५३) में, पुरुषोत्तम की भावना से भावित अधिकारी को भक्तिरूप फल की प्राप्ति होने तथा उस भावना से विरहित अधिकारी को पूर्वोक्त ब्रह्मलोकादिरूप फल की प्राप्ति होने और इस प्रकार अधिकारी-भेद से पूजा के फल में भेद होने के कथन से इस आशङ्का का अपनोदन हो जाता है कि **' यमेवैष वृणुते'** (कठोप० १ ।२ ।२३; मुण्ड० उप० ३ ।२ ।३) इत्यादि श्रुतिवाक्य में **'यह जिसको वरण करता है'** इत्यादिरूप सामान्य कथन से, साधनों में किये जाने वाले श्रम को व्यर्थ समझ कर, कर्म, ज्ञान एवं भक्ति के फलों की आकाङ्क्षा रखने वालों की उनमें निःशङ्क प्रवृत्ति न होगी।

गोस्वामी श्री पुरुषोत्तम ने इस वाक्य की व्याख्या दो प्रकार से की है। अपनी प्रथम व्याख्या में पूर्वपक्ष उपस्थापित करते हुए वे कहते हैं कि लोगों की विभिन्न साधनों में प्रवृत्ति देखी जाती है अतः यदि किसी व्यक्ति की भगवत्पूजा आदि में प्रवृत्ति दिखाई दे तो यही समझना चाहिए कि इस प्रवृत्ति का कारण उस जीव का भगवत्कर्तृक वरण ही है। इस प्रकार भगवत्पूजा आदि में प्रवृत्त व्यक्ति को, यह विश्वास हो जाने पर कि भगवान् द्वारा उसका वरण कर लिया गया है यह निश्चय हो जाता है कि जैसा कि **'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः'** (कठोप० १।२।२३; मुण्ड० उप० ३।२।३) इत्यादि श्रुतिवाक्य में कहा गया है भगवत्कर्तृक वरण का फल भगवत्प्राप्ति ही होती है अतः उसे भी पूजन में प्रवृत्ति होने पर भी भगवत्प्राप्तिरूप फल ही मिलेगा। ऐसी स्थिति में ऐसा व्यक्ति कर्म, ज्ञान एवं भक्ति के शास्त्रोक्त विभिन्न फलों को जानते होने एवं उन्हें प्राप्त करने के लिए इच्छुक होने के बावजूद उनमें निःशङ्क रूप से प्रवृत्त नहीं हो सकता। और जैसा कि **' संशयात्मा विनश्यति'** आदि वाक्यों में कहा गया है, उनमें सशङ्क मन से प्रवृत्त होने पर उसे उनका फल भी नहीं मिल सकेगा। अतः यहाँ (अर्थात् भागवत ११।२७।५२–५३ में) पूजा के फलों में भेद की जो बात कही गयी है वह श्रुतिविरुद्ध प्रतीत होती है।

इस पूर्वपक्ष का उत्तर देते हुए श्रीपुरुषोत्तम कहते हैं कि भागवत के उपर्युक्त वाक्य में हुए पूजा के फलों में भेद के उल्लेख का **'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः'** (कठोप० १।२।२३; मुण्ड० उप० ३।२।३) इत्यादि श्रुतिवाक्य से कोई विरोध

ननु एवं पुरुषोत्तमार्थिप्रवृत्त्यनुपपत्तिः। मैवम्। तदर्थित्वस्यैव वरण-

---

नहीं है। यद्यपि पूजादि में प्रवृत्ति भगवान् द्वारा वरण कर लिये जाने के कारण ही होती है फिर भी पूजक की कर्म, ज्ञान आदि के उन-उन फलों में अनुरक्ति देखकर यह अनुमान होता है कि भगवदिच्छाविशेष भगवत्प्राप्तिरूप पूर्णफल में प्रतिबन्धक है। इस प्रकार पूर्णफलदानेच्छारूप सहकारी कारण के अभाव में विभिन्न फलाकाङ्क्षियों के विभिन्न फलों में अनुरक्ति रखने के कारण अधिकार-भेद से उन फलों को देनेवाले कर्म, ज्ञान आदि में प्रवृत्ति उपपन्न ही है। भागवत के उपर्युक्त वाक्य में पूजा के फलों में भेद होने की बात इसी आशय से कही गयी है।

'यद्वा' से प्रारम्भ कर गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तम इस वाक्य की वैकल्पिक व्याख्या करते हुए यह पूर्वपक्ष उपस्थित करते हैं कि **'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः'** (कठोप० १।२।२३; मुण्ड० उप० ३।२।३) इस श्रुतिवाक्य से यह अनुमान करना ठीक नहीं है कि जो व्यक्ति भगवत्प्राप्तिरूप फल से भिन्न किसी अन्य फल की अपेक्षा किये बिना भगवद्भावना करता है उसको भगवान् ने वरण कर लिया है। श्रेय प्राप्त करने की इच्छा से भगवान् के **'योगास्त्रयो मया प्रोक्ताः'** (भाग० ११।२०।६) इत्यादि वाक्यों में श्रेय के साधन के रूप में विहित कर्म, ज्ञान एवं भक्ति में प्रवृत्त होने के लिए तत्पर मनुष्य जब उपर्युक्त श्रुतिवाक्य सुनेगा तो भगवान् ने मेरा वरण किया है या नहीं यह संशय उत्पन्न हो जाने के कारण वह कर्म, ज्ञान एवं भक्ति रूप साधनों में निःशङ्क रूप से प्रवृत्त न हो सकेगा और सशङ्क होकर उनमें प्रवृत्त होने पर उनका फल न मिल सकेगा। अतः उपर्युक्त अनुमान सभी श्रुतिवाक्यों का विरोधी ही होगा। पूर्वपक्षी की इस आशङ्का का समाधान करते हुए श्रीपुरुषोत्तम कहते हैं कि इष्टसिद्धि के लिए तत्पर व्यक्ति का 'कर्म, ज्ञान आदि इष्ट साधक हैं' यह ज्ञान ही इष्टप्राप्ति के लिए उसके कर्म, ज्ञान आदि रूप साधनों में निःशङ्क प्रवृत्ति करा सकने के लिए पर्याप्त होगा और इसमें श्रुति से कोई विरोध न होगा, अतः उपर्युक्त अनुमान ठीक है।

पूर्वपक्षी पुनः शङ्का करते हैं कि 'भगवान् जिसका वरण करते हैं उसी को प्राप्त हो सकते हैं' यह मान लेने पर, 'भगवान् ने मेरा वरण किया है या नहीं' यह निश्चय न होने से, भगवत्प्राप्ति की आकाङ्क्षा रखने वाले व्यक्ति की भगवत्प्राप्ति के लिए निरपेक्ष भक्ति में प्रवृत्ति अनुपपन्न हो जाएगी।

सिद्धान्ती का कहना है कि पूर्वपक्षी की यह आशङ्का भी निर्मूल है। पूर्वपक्षी का यह कहना इसलिए ठीक नहीं है कि स्वयं पुरुषोत्तमार्थित्व (अर्थात् भगवत्प्राप्ति की

कार्यत्वात्, अन्यथा तदनुपपत्तेः। वरणे चास्ति प्रकारद्वयम्, मर्यादापुष्टिभेदेन। आद्यस्तु तत्साधने भवति प्रवृत्तः, तथैव तद्वरणात्। परन्तु स्नेहोत्पत्तिपर्यन्तं

इच्छा) ही भगवत्कर्तृक वरण का कार्य है और उससे उसके कारण के रूप में भगवत्कर्तृक वरण का अनुमान होता है क्योंकि विना भगवत्कर्तृक वरण हुए भगवत्प्राप्ति की इच्छा उत्पन्न ही नहीं होती है।

इस प्रकार भगवत्प्राप्ति की आकाङ्क्षा की अनुभूति मात्र से 'भगवान् ने मेरा वरण कर लिया है' यह अनुमान या निश्चय हो जाने के कारण पुरुषोत्तमार्थी की निरपेक्ष भक्ति में प्रवृत्ति में कोई अनुपपत्ति नहीं है।

श्रीपुरुषोत्तम के अनुसार, 'यदि भगवत्प्राप्ति की इच्छारूप कार्य से ही भगवत्कर्तृकवरण रूप कारण का अनुमान हो जाता है तो पुरुषोत्तमार्थी को प्रवृत्ति भक्ति में ही होगी कर्म आदि में नहीं, ऐसी दशा में भगवान् का कर्म, ज्ञान एवं भक्ति इन तीन मार्गों का उपदेश देना अनुपपन्न हो जाएगा', इस आशङ्का का समाधान करने के लिए सिद्धान्ती वरण के द्वैविध्य का प्रतिपादन करते हैं।

मर्यादा एवं पुष्टि के भेद से भगवत्कर्तृक वरण के दो प्रकार होते हैं।

भक्तितरङ्गिणीकार श्रीरघुनाथ के अनुसार, 'व्रजवासियों आदि के सम्बन्ध में कहीं-कहीं ऐसा भी देखा जाता है कि पुरुषोत्तमार्थित्व अर्थात् भगवान् को प्राप्त करने की उत्कट इच्छा—जिसे सिद्धान्ती भगवत्कर्तृक वरण का कार्य मानते हैं—के विना भी भगवान् की प्राप्ति हो जाती है। इसका भी कोई कारण अवश्य होना चाहिए और प्रकृत प्रसङ्ग में भगवत्प्राप्ति का पुरुषोत्तमार्थित्व से भिन्न कोई कारण मानने में अनुपपत्ति होगी,' इस आशङ्का का समाधान करने के लिए सिद्धान्ती ने भगवत्कर्तृकवरण के द्विविध होने का प्रतिपादन किया है।

इनमें से प्रथम अर्थात् मर्यादा मार्ग में वरण किया गया व्यक्ति भगवत्प्राप्ति के उपायभूत ज्ञान, कर्म आदि रूप साधनों में प्रवृत्त होता है क्योंकि भगवान् उसका वरण उसी रूप में करते हैं।

श्रीरघुनाथ एवं श्रीपुरुषोत्तम मर्यादा मार्ग में किये गये वरण का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि भक्त को ज्ञान, कर्म आदि रूप साधनों में प्रवृत्त कर स्नेहोत्पत्तिपर्यन्त उसे उन साधनों के अनुरूप फल देना यह मर्यादामार्ग में किये गये वरण का स्वरूप है। इसमें भगवान् यह इच्छा करके वरण करते हैं कि यह ज्ञान, कर्म आदि रूप साधनों के द्वारा ही भक्ति को और मुझे भी प्राप्त करे।

जिसका वरण मर्यादामार्ग में किया गया है उसके लिए साधनानुष्ठान में भगव-

विधिरेव तत्र प्रयोजकः। तदुत्पत्त्यनन्तरञ्च रागादेव तत्सम्बन्धिपदार्थे यतिष्यत इति विधेरप्रयोजकत्वम्। द्वितीयस्य तु प्रवृत्त्यप्रवृत्ती अप्रयोजिके, भगवता स्वस्यैव साधनत्वेनाङ्गीकारात्। अत एव,

'अह्न्यापृतं निशि शयानमतिश्रमेण' (भाग० २।७।३१)

इति गोकुलविशेषणं द्वितीयस्कन्धे ब्रह्मणोक्तम्, इति सर्वमवदातम्।

द्विषयक स्नेहोत्पत्तिपर्यन्त तो विधि प्रयोजक रहती है परन्तु उसके बाद अप्रयोजक हो जाती है क्योंकि स्नेहोत्पत्ति के बाद तो वह बिना किसी विधि के भी राग से ही भगवत्प्राप्ति के साधन के रूप में भगवान् से सम्बद्ध ज्ञान, पूजा आदि साधनों या पदार्थों में प्रवृत्त या प्रयत्नशील होता है। द्वितीय के अर्थात् जिसका पुष्टि मार्ग में वरण किया गया है उसके लिए तो प्रवृत्ति एवं अप्रवृत्ति दोनों ही अप्रयोजक हैं, क्योंकि इस मार्ग में तो भगवान् स्वयं अपने को ही साधन के रूप में स्वीकार करते हैं। इसीलिए श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध में ब्रह्मा ने (गोकुल अर्थात्) गोकुलवासियों का विशेषण **'दिन भर लौकिक कार्यों में लगे रहने वाले और इस प्रकार दिन में अत्यधिक परिश्रम करने से थक जाने के कारण रात में गहरी नींद में सो जाने वाले'** (भाग० २।७।३१) दिया है। इस प्रकार उपर्युक्त सारा सैद्धान्तिक विवेचन निरवद्य है।

मर्यादा मार्ग में वरण किये गये जीव एवं पुष्टिमार्ग में वरण किये गये जीव का भेद स्पष्ट करते हुए तरङ्गिणीकार श्रीरघुनाथ लिखते हैं कि वरण के आदि कारण के रूप में अनुग्रह दोनों में समान है। यद्यपि मर्यादा मार्ग में वरण किये गये जीव की स्वकृत प्रवृत्ति या अप्रवृत्ति भी भगवत्स्वरूप से सम्बन्ध करा सकने में स्वतः समर्थ नहीं होती तथापि पुष्टिमार्ग में वरण किये गये जीव का वैलक्षण्य यह है कि उसे अवान्तर कृति की अपेक्षा ही नहीं होती।

१—एवं दुःखाभावमुक्त्वा परमसुखमाह, **'अह्न्यापृतम्'** इति। **अह्नि** दिवसे **आपृतं** लौकिकक्रियया व्याप्तम्। **'निशि शयानमतिश्रमेण'** इति निर्भरनिद्रया रात्रौ व्याप्तम्। एवमहोरात्रं परलोकसाधनरहितं स्वमेव वैकुण्ठं व्यापिवैकुण्ठम् **उप** समीप एव **नेष्यति**। स्वनिकट एव मायाजवनिकां दूरीकृत्य **तत्रैव** वैकुण्ठे नीतवान्। इदं चरित्रं न योगस्य, न मायायाः, न कालस्य, न मण्यादीनाम्। अतो ब्रह्मचरित्रमेवैतत्। नयने हेतुः **'स्वम्'** इति। आत्मत्वेन भगवांस्तत्परिगृहीतवान्। (सुबो०२।७।३१)।

यच्च **अह्नि** दिवसे **आपृतं** व्यापृतं कृतव्यापारं अतएव **अतिश्रमेण** त्रस्तं **निशि शयानम्** इति सर्वथा वैकुण्ठगमनसाधनहीनमपि गोकुलं गोकुलवासिजनं विकुण्ठे नित्ये लोके **उपनेष्यति** प्रापयिष्यति, तच्च कर्म दिव्यमेवेतरथा न भाव्यमित्यन्वयः। भगवत्कर्मणोऽद्भुतत्वं सूचयति, स्म इति। (बालप्रबो०२।७।३१)।

किञ्च; विष्णुविषयकत्वेनैव भक्तित्वे कर्माङ्गत्वेन क्रियमाणविष्णुस्मरणादेः अपि भक्तित्वापत्तिः। कर्ममार्गीयत्वान्न तथा। पूर्वोक्तन्यायेन विभूतिरूपस्यैव विष्णोः स्मरणादेः तत्र विहितत्वाच्च न तथा। कर्ममार्गे भगवद्विभूतीनामेव इज्यत्वात्। अतएव राजसूयं चिकीर्षुणा धर्मराजेन प्रभुं प्रति विज्ञापितम्, 'यक्ष्ये विभूतीर्भवतः तत्सम्पादय नः प्रभो,'[1] (भाग०१०।७२।३) इति, अन्यथा साक्षाद् हरिं विज्ञापयन् 'त्वाम्' इत्येव वदेत्।

और भी; विष्णुविषयकत्व को ही भक्ति मानने पर कर्मों के अङ्गरूप में किये जाने वाले विष्णुस्मरण आदि को भी भक्ति मानने का प्रसङ्ग उपस्थित हो सकता है किन्तु कर्ममार्गीय होने के कारण उस विष्णुस्मरण आदि को भक्ति नहीं कहा जा सकता। पूर्वोक्त न्याय से (अर्थात् जैसा कि ऊपर पृष्ठ ७-९ पर प्रतिपादित किया गया है सर्वविशिष्टत्वाभाव के कारण) उन स्थलों पर भगवान् के विभूति रूप के स्मरण आदि के ही विहित होने के कारण भी उस स्मरणादि को भक्ति नहीं कहा जा सकता क्योंकि कर्ममार्ग में इज्या आदि का विषय भगवान् की विभूतियाँ ही होती हैं साक्षाद् भगवान् नहीं।

सिद्धान्ती कर्ममार्ग का विभूतिपरत्व प्रतिपादित करते हैं—

इसीलिए (अर्थात् कर्ममार्ग के विभूतिपरक होने के कारण ही) राजसूय यज्ञ करने की इच्छा वाले धर्मराज युधिष्ठिर ने भगवान् श्रीकृष्ण से कहा था, **'हे गोविन्द! मैं राजसूय यज्ञ के द्वारा आपकी पावन विभूतियों का यजन करना चाहता हूँ, अतः हे प्रभो! आप मेरा यह यज्ञ सम्पादित करा दें।'** (भाग०१०।७२।३)। अन्यथा (अर्थात् यदि कर्ममार्ग विभूतिपरक न होता तो) साक्षात् भगवान् से निवेदन करते हुए धर्मराज युधिष्ठिर, **'भवतः विभूतीः यक्ष्ये'** (अर्थात् आपकी विभूतियों का यजन करना चाहता हूँ) न कहकर **'त्वां यक्ष्ये'** (अर्थात् आप का यजन करना चाहता हूँ) ऐसा ही कहते।

---

१. क्रतुराजेन गोविन्द! राजसूयेन पावनीः।
यक्ष्ये विभूतीर्भवतस्तत्सम्पादय नः प्रभो ॥(भाग०१०।७२।३)।

यद्यपि नारदेन त्वां यक्ष्यतीत्युक्तं तथापि सर्वरूपस्य परिच्छेदः समायाति इति भगवदंशानामेव विभूतिरूपाणां देवानां यागं निरूपयति, पावनीः तव विभूतीः यक्ष्ये इति। पावनीः इत्याधिदैविकीः दैत्यसम्बन्धव्यावृत्त्यर्थं वा। तत् तस्मात् तद् वा यजनं नः अस्माकं सम्पादय। सामर्थ्याय सम्बोधनम्। (सुबो०१०।७२।३)।

एतेन भगवदिच्छायां सत्यामेव भक्तस्य कर्मकरणम्, तत्र चोक्तानां देवानां तद्विभूतित्वेनैव यागः, अन्यथा अनन्यत्वभङ्गप्रसङ्गः इत्यपि सूचितम्।

श्रीमद्भागवत के इस वाक्य (भाग० १०।७२।३) से यह भी सूचित होता है कि भगवान् की इच्छा[1] होने पर ही भक्त (यागादिरूप) कर्म करने में प्रवृत्त होता है और उस यागादिरूप कर्म में उन-उन देवताओं का यजन भगवान् की विभूति के रूप में ही होता है। यदि ऐसा न हो तो यागादिरूप कर्म करने से भगवद्भक्त की भगवान् के प्रति अनन्यता के भङ्ग हो जाने का अनिष्टप्रसङ्ग उपस्थित हो जाएगा।

भागवत के राजसूयप्रकरण के **'मैं आपकी विभूतियों का यजन करना चाहता हूँ'** (भाग० १०।७२।३) इस कथन के आधार पर ही यागादिरूप कर्म को विभूति-परक मान लेना ठीक न होगा क्योंकि उसी प्रकरण में नारद द्वारा भगवान् से कहे गये, **'युधिष्ठिर राजसूय यज्ञ के द्वारा आप का यजन करेंगे'**[2] (भाग० १०।७०।४१) इत्यादि वाक्य तथा स्वयं भगवान् द्वारा जरासन्ध के बन्दीगृह में पड़े राजाओं को मुक्त कर उनसे कहे गये **'आप लोग यज्ञों के द्वारा मेरा यजन करते हुए धर्मपूर्वक प्रजा की रक्षा करें'**[3] (भाग० १०।७३।२१) इत्यादि वाक्य में स्वयं भगवान् को ही यजन का विषय स्वीकार किया गया है, इस आशङ्का का समाधान करते हुए श्रीपुरुषोत्तम कहते हैं कि इन वाक्यों में भी विभूतिरूप को भगवान् का एक रूप और इसीलिए उनसे अभिन्न मानने के अभिप्राय से ही **'माम्'** (अर्थात् मुझे) इस द्वितीयान्त पद का प्रयोग उसी प्रकार कर दिया गया है जिस प्रकार ऊपर (पृष्ठ २४ पर) उल्लिखित **'एवं यः पूजयेत माम्'** (भाग० ११।२७।५३) इत्यादि वाक्य में[4]।

---

१. भगवदिच्छा च स्वस्य साधनसम्पत्त्यनन्तरं तत्कर्मकरणेच्छोत्पत्तौ भगवद्विज्ञापने तदनुकूलसम्भारारम्भणादौ विघ्नाभावाद्भगवद्भक्ताज्ञादिभिर्बोध्या। (श्रीपुरुषोत्तमप्रणीतविवेकः, पृष्ठ ३८)।

२. **यक्ष्यति त्वां मखेन्द्रेण राजसूयेन पाण्डवः।**
पारमेष्ठ्यकामो नृपतिस्तद्भवाननुमोदताम्॥ (भाग० १०।७०।४१)।

३. **भवन्त एतद्विज्ञाय देहाद्युत्पाद्यमन्तवत्।**
मां यजन्तोऽध्वरैर्युक्ताः प्रजा धर्मेण रक्षथ॥ (भाग० १०।७३।२१)।

४. **'एवं यः पूजयेत माम्'** (भाग० १०।२७।५३) इत्यत्र इव **'त्वाम्'** (भाग० १०।७०।४१; १०।७३।२१) इत्यत्रापि विभूतिरूपस्य भगवदभिन्नत्वमभि-प्रेत्यैव तथोक्तेः। यागे कर्मसचिवत्वस्य देवेष्वेव दर्शनात्। प्रैषयाज्यापुरोनुवाक्यादिभिः तथा निश्चयात्। साक्षात्पुरुषोत्तमपरत्वे विध्यपराधाप्रसक्त्या प्रायश्चित्तविधि-वैयर्थ्यापत्तेश्च। **'न रोधयति मां योगः'** (भाग० ११।१२।१) इत्यादिपूर्वोक्तवाक्य-

अपरञ्च। तत्तदुपासकस्य तत्तत्सायुज्यं परमफलम्, **'देवान् देवयजो यान्ति'** (गीता ७। २३) इति वाक्यात्।

'यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय ! सदा तद्भावभावितः ॥' (गीता ८। ६)

'श्रीमद्भागवत के पञ्चम स्कन्ध के तृतीय अध्याय में नाभि द्वारा सन्तान-कामना से यज्ञ करने[1] एवं उसमें भगवान् के प्रादुर्भूत होने[2] का उल्लेख है, ऐसी दशा में यज्ञादिरूप कर्म को भगवत्परक अर्थात् साक्षात्पुरुषोत्तमपरक न मान कर विभूतिपरक मानना कैसे उचित हो सकता है ?' इस आशङ्का का समाधान करते हुए श्रीपुरुषोत्तम कहते हैं[3] कि वहाँ भगवान् भक्ति से ही आविर्भूत हुए हैं (यज्ञ करने से नहीं); यागादिरूप कर्म तो विभूतिपरक ही होते हैं।

अब सिद्धान्ती फलभेद के आधार पर कारण-भेद का अनुमान कर के यह सिद्ध करते हैं कि इस प्रकार भी यही निष्कर्ष निकलता है कि साक्षात् पुरुषोत्तम कर्म आदि के विषय नहीं हैं।

और भी। जैसा कि गीता के, **'देवताओं का यजन करने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं'** (गीता ७। २३) तथा **'हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! मरणकाल में व्यक्ति जिस-**

विरोधाच्च। एवञ्च **'विष्णुरुपांशु यष्टव्यः'** इत्यत्रापि विभूतिरूप एव सः, **'विश्वेदेवा उपांशु यष्टव्या'** इत्यादिवाक्यदर्शनेनेतरतौल्यात्। एवमन्यत्रापि ज्ञेयम्। (श्रीपुरुषोत्तमप्रणीतविवेकः, पृष्ठ ३७)।

१. नाभिरपत्यकामोऽप्रजया मेरुदेव्या भगवन्तं यज्ञपुरुषमवहितात्मायजत। (भाग० ५।३।१)।

२. तस्य ह वाव श्रद्धया विशुद्धभावेन यजतः''''भगवान्''''आविश्चकार। (भाग० ५।३।२)।

३. न च पञ्चमस्कन्धोक्ते अपत्यकामस्य नाभेर्यागे भगवतः प्रादुर्भावात्कथं विभूतिपरत्वमिति शङ्क्यम्, तत्र भक्त्यैव भगवदाविर्भावात्, **'तस्य ह वाव श्रद्धया विशुद्धभावेन यजतः प्रवर्ग्येषु प्रचरत्सु द्रव्यदेशकालमन्त्रर्त्विग्दक्षिणाविधानयोगोपपत्त्या दुरधिगमो भगवान् भागवतवात्सल्यतया सुप्रतीक आत्मानम्'''आविश्चकार'** (भाग० ५।३।२) इतिकथनात्। एवमेव पृश्निसुतपस्तपस्यपि ज्ञेयम्, तत्रापि, **'तपसा श्रद्धया नित्यं भक्त्या च हृदि भावितः।'** (भाग० १०।३।३७) इति वाक्यात्। एवं सिद्धे कर्मणां विभूतिपरत्वे यत्र तादृशवाक्याभावस्तत्रापि प्रादुर्भावहेतुत्वेन भक्तिः कल्प्येति दिक्। (श्रीपुरुषोत्तमप्रणीतविवेकः, पृष्ठ ३७-३८)।

इति वचनात्। एवञ्च सति एकादशस्कन्धेऽस्मत्प्रभुणा,

'केवलेन हि भावेन गोप्यो गावः खगा मृगाः।
येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा॥' (भाग० ११।१२।८)

इति महता प्रबन्धेन गोकुलवासिनां स्वप्राप्तिं निरूप्य,

जिस भी भाव का अर्थात् जिस किसी भी देवताविशेष का या अपने मनोऽभिलषित जीवस्वरूप का चिन्तन करता हुआ शरीर छोड़ता है, निरन्तर उस भाव से भावित हुआ वह व्यक्ति मरणकाल में स्मरण किये गये उस भाव को ही प्राप्त होता है[1]' (गीता ८।६), इन वाक्यों से ज्ञात होता है कि उन-उन देवताओं के उपासकों को परमफल के रूप में उन-उन देवताओं में सायुज्य प्राप्त होता है। इस प्रकार विभूतियों के उपासकों को उन विभूतियों में सायुज्य रूप फल (न कि भगवत्सायुज्यरूप फल) के प्राप्त होने का निर्द्धारण हो जाने की स्थिति में[2] यह अवधेय है कि भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध में हमारे प्रभु गोपीजनवल्लभ श्रीकृष्ण ने, 'केवल प्रेमपूर्ण भाव अर्थात् भक्ति से ही साधन-साध्य के ज्ञान के सम्बन्ध में मूढबुद्धि गोपियाँ, गायें, पक्षी, व्रज के हरिणादि पशु, कालिय नाग एवं अन्य भी अनायास ही मुझको प्राप्त होकर कृतकृत्य हो गये' (भाग० ११।१२।८) इत्यादि वाक्य द्वारा गोकुलवासियों द्वारा अपनी

---

१. न केवलं मां स्मरन् मद्भावं याति इति नियमः। यं यम् इति। अन्ते अन्तकाले, तमेव भावं स्मर्तुः स्वविषयजातीयाकारत्वसम्पादकं भावं स्वरूपम् एति, भरतवत्। (गीतातत्त्वदी० ८।६)।

यं यं देवतान्तरमपि वा स्वमनोऽभिलषितजीवस्वरूपं स्मरन् अन्ते कलेवरं त्यजति स तमेव तत्सारूप्यम् एति प्राप्नोतीत्यर्थः। अपि इति निश्चयार्थे वा। अत एव भरतस्य अन्ते मृगस्मरणे मृगशरीराप्तिः, अयमेवार्थोऽपि शब्देन द्योतितः। यतोऽन्तकाले यत्स्मरणेन म्रियते तमेव प्राप्नोति अतः साधारण्येनापि मत्स्मरणेन मरणे मत्प्राप्तौ न सन्देह इत्यर्थः। ननु अन्ते वैकल्ये देवतान्तरस्मरणं स्वाभिलषित-स्मरणं वा कथं स्याद्, इत्यत आह—सदा तद्भावभावितः, निरन्तरं तद्भावेन भावितो यो भवति स तमेवान्ते स्मरति। (गीतामृततरङ्गिणी ८।६)।

२. एवञ्च सति इति। विभूतिपराणां फले उक्तवाक्याभ्यां निर्धारिते सति। तथा च तत्र (= गीता ७।२३; ८।६) तेषां फलं निर्धारितम्, अत्र (= भाग० ११।१२।८) स्वस्य अप्राप्यत्वमुक्तम्। तेन तत्प्राप्यस्य विभूतित्वं तत्क्रतुन्यायादपि सिद्ध्यतीत्यर्थः। (तीर्थ, पृष्ठ ३९—४०)।

'यन्न योगेन साङ्ख्येन दानव्रततपोऽध्वरैः।
व्याख्यास्वाध्यायसंन्यासैः प्राप्नुयाद्यत्नवानपि॥' (भाग० ११।१२।९)

इति इतरसाधनवदप्राप्यत्वं स्वस्य निरूपितम् इति भक्त्यतिरिक्तसाधनप्राप्यं न पुरुषोत्तमस्वरूपमिति निश्चीयते।

गीतासु च पार्थेन,

'एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥' (गीता १२।१)

इति प्रश्ने कृते,

'मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेताः ते मे युक्ततमा मताः॥' (गीता १२।२)

इति भक्तिमार्गीयोपासनस्य ज्ञानमार्गादुत्कर्षमुक्त्वा, 'ये त्वक्षरम्' (गीता १२।३) इत्यादिना ज्ञानमार्गिणामपकर्षम् उक्तवान् भगवान् इति

प्राप्ति (अर्थात् भगवत्प्राप्ति) का निरूपण करके, **'जिन्हें बड़े-बड़े प्रयत्नशील साधक भी योग, सांख्य, दान, व्रत, तप, यज्ञ, श्रुतियों की व्याख्या, स्वाध्याय और संन्यास आदि साधनों के द्वारा भी प्राप्त नहीं कर सकते'** (भाग० ११।१२।९), इत्यादि वाक्य द्वारा, भक्ति से भिन्न अन्य साधन से सम्पन्न व्यक्ति द्वारा अपने अप्राप्य होने का प्रतिपादन किया है। इससे यह निश्चित हो जाता है कि जिसकी प्राप्ति भक्ति से भिन्न साधनों के द्वारा हो जाए वह पुरुषोत्तमस्वरूप नहीं हो सकता।

अब सिद्धान्ती भगवान् द्वारा गीता में कहे गये वाक्यों का उल्लेख कर ज्ञान मार्ग के भक्तिमार्ग की अपेक्षा न्यून या अपकृष्ट होने का प्रतिपादन करते हुए यह बताते हैं कि पुरुषोत्तम ज्ञानमार्ग के भी विषय नहीं हैं।

गीता में पृथापुत्र अर्जुन के द्वारा **'जो भक्त निरन्तर ऊपर** (गीता ११।५५ इत्यादि में) **कहे गये प्रकार से आपकी उपासना करते हैं** तथा जो (गीता ८।११–१३ में उल्लिखित) **अव्यक्त अक्षर तत्त्व की उपासना करते हैं, उनमें से उत्तम योगवेत्ता कौन हैं?'** (गीता १२।१) यह प्रश्न किये जाने पर भगवान् ने, **'जो भक्त मन को मुझमें लगा कर निरन्तर दत्तचित्त होकर परम श्रद्धा से युक्त होकर मेरी सेवा करते हैं, उन्हें मैं उत्तम या श्रेष्ठतम योगी मानता हूँ'** (गीता १२।२) इत्यादि वाक्य द्वारा भक्तिमार्गीय उपासना के ज्ञानमार्ग से उत्कृष्ट होने की बात कह कर, **'और जो अक्षर ...की उपासना करते हैं'** (गीता १२।३) इत्यादि वाक्य द्वारा ज्ञानमार्गियों के अपकर्ष

न ज्ञानमार्गस्यापि पुरुषोत्तमविषयत्वम् ।

अत्र **'ते प्राप्नुवन्ति मामेव'** (गीता १२।४) इत्यत्र अक्षरस्यापि पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वेन तद्विभूतिरूपत्वात् **'माम्'** (गीता १२।४) इत्युक्तम् । न च अक्षरमेव पुरुषोत्तम इति वाच्यम्, **'कूटस्थोऽक्षर उच्यते'** (गीता १५।१६), **'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः'** (गीता १५।१७), **'अक्षरादपि चोत्तमः'** (गीता १५।१८) इति भगवद्वचनात् ।

कर्ममार्गोऽपि एवमेव ज्ञेयः । तथा हि,

'यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ ! नान्यदस्तीति वादिनः ॥' (गीता२।४२) इत्यादिना,

---

या न्यूनत्व का प्रतिपादन किया है । अतः ज्ञानमार्ग को पुरुषोत्तम-विषयक नहीं कहा जा सकता अर्थात् साक्षात् पुरुषोत्तम को ज्ञानमार्ग का विषय मानना भी ठीक नहीं है ।

परवर्ती श्लोक के तृतीय चरण **'ते प्राप्नुवन्ति मामेव'** अर्थात् **'वे मुझे ही प्राप्त करते हैं'** (गीता १२।४) में द्वितीयान्त पद **'माम्'** (अर्थात् 'मुझे') का अर्थ 'साक्षात्पुरुषोत्तम को' नहीं प्रत्युत 'अक्षर को' है । यहाँ **'माम्'** पद का प्रयोग साक्षात् पुरुषोत्तम के लिए न हो कर अक्षर के लिए हुआ है क्योंकि अक्षर भी पुरुषोत्तम का अधिष्ठान होने के कारण पुरुषोत्तम की विभूति ही है । 'अक्षर ही पुरुषोत्तम है' यह कहना भी ठीक न होगा क्योंकि स्वयं भगवान् ने कहा है कि **'कूटस्थ पुरुष अक्षर कहा जाता है'** (गीता १५।१६), **'उत्तम पुरुष अर्थात् पुरुषोत्तम तो अन्य अर्थात् उससे भिन्न है'** (गीता १५।१७) और **'मैं अक्षर से भी उत्तम हूँ और इसीलिए लोक एवं वेद में मुझे पुरुषोत्तम कहा जाता है'** (गीता १५।१८) ।

सकामकर्ममार्ग अतिजघन्य एवं अनिष्टपर्यवसायी है और पुरुषोत्तम को उसका विषय कथमपि नहीं माना जा सकता यह प्रतिपादित करते हुए सिद्धान्ती कहते हैं कि,

कर्ममार्ग को भी ऐसा ही समझना चाहिए अर्थात् पुरुषोत्तम को कर्ममार्ग का विषय भी नहीं माना जा सकता । गीता में, **"हे पार्थ ! अज्ञानी, वेदवाद (अर्थात् फलबोधक कर्मवाद)में रत, 'स्वर्गादिरूप वेदोक्त फल के अतिरिक्त अन्य कोई कर्मफल है ही नहीं' ऐसा कहने वाले व्यक्ति, अदूरदर्शियों को ही रमणीय लगने वाली जिन बातों को कहा करते हैं[1]"** (गीता २।४२);

---

१. **'यामिमाम्'** इति । जैमिनीया वेदवाचं सर्वकाण्डरूपां सर्वां पुष्पितां

'त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकम्, अश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं, क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते॥' (गीता ९।२०-२१)

इत्यादिभगवद्गीतासु, श्रीभागवते च,

"वेदत्रयी में निरूपित कर्मों को करने वाले, यज्ञशेष सोम का पान करने वाले, नष्ट हो गये पापों वाले (अर्थात् निष्पाप) तथा भोगों की कामना रखने वाले पुरुष, उन-उन देवताओं के रूप में मेरी आराधना करके स्वर्ग (आदि कर्मानुगुण लोकों) की प्राप्ति की इच्छा करते हैं। वे अपने सम्पादित पुण्य के फलस्वरूप इन्द्रलोक को प्राप्त कर, स्वर्ग में देवताओं के दिव्य भोगों को भोगते हैं। उस विशाल अर्थात् सकलविषयभोगयोग्य स्वर्गलोक (के दिव्य भोगों) को भोग चुकने पर (उसकी प्राप्ति के कारणरूप) पुण्यों के क्षीण अर्थात् समाप्त हो जाने पर, वे पुनः इस मृत्युलोक को लौट आते हैं। इस प्रकार केवल वैदिक कर्मों का आश्रय लेनेवाले भोगेच्छु पुरुष पुनः-पुनः आवागमनरूप जन्ममरणात्मक प्रवाह को प्राप्त करते हैं।[१]" (गीता ९।२०-२१) इत्यादि वाक्यों तथा श्रीमद्भागवत में

प्रकर्षेण कर्तृकर्मफलभावेन युक्तां वदन्ति। पुष्पस्थानीयेषु स्वर्गादिषु फलत्वबुद्ध्या रता भवन्तीत्यर्थः। यतो वेदवादेषु फलबोधककर्मवादेषु रताः। न च तत्सत्फलं वेदबोधितत्वादिति वाच्यम्, अर्थान्तरेण वेदबोधितत्वात् तत्फलस्य **'यन्न दुःखेन सम्भिन्नम्'** इत्यादिवाक्यात्। तथा चेयं वाक् पुष्पिता न फलिता। तेषु परं गन्धलोभितचेतस एव ते भ्रान्ता भवन्तीति हृदयम्। (गीतातत्त्वदी० २।४२)।

ये **इमां** पुष्पितां **यां** वाचं फलादिरहितां कुत्सितपुष्पयुक्तलतावददूरदृष्टरम्यां **प्रवदन्ति** प्रकर्षेण फलरूपतया वदन्ति तेषां व्यवसायात्मिका बुद्धिर्न विधीयते, नोत्पद्यत इत्यर्थः। ननु तेऽपि शास्त्रोक्तज्ञानवन्तः कथं तथा वदन्ति? इत्याकाङ्क्षायामाह, **अविपश्चित** इति। मूर्खा अज्ञाना इत्यर्थः। तेषां मूढत्वं विशेषणैः प्रकटयति, **वेदवादरता** इति वेदोक्तफलककर्मकरणमेवोचितम्, न तु निष्कामतया, ते तथा अतएव **नान्यदस्तीति वादिनः** वेदोक्तव्यतिरिक्तं कर्मफलं नास्तीति वदनशीलाः। (गीतामृततरङ्गिणी २।४२)।

१. **'त्रैविद्या'** इति। त्रिगुणात्मकत्रिवेदविद्यायां निष्णाताः, तथा च त्रिगुणकर्मकारिणः तथाविधैरेव यज्ञैस्तत्तद्देवताविशेषं समाराध्य वस्तुतस्तत्राहमेवेति **'माम्'** इत्युक्तम्। **स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते**। स्वर्गतिमित्युपलक्षणं कर्मानुगुणलोकानाम्।... ...एवं

'अथ यो गृहमेधीयान् धर्मानेवावसन् गृहे।
काममर्थञ्च धर्मान् स्वान् दोग्धि भूयः पिपर्ति तान् ॥
स चापि, भगवद्धर्मात् काममूढः पराङ्मुखः।
यजते क्रतुभिर्देवान् पितृंश्च श्रद्धयान्वितः ॥'(भाग०३।३२।१-२)
'ये त्विहासक्तमनसः कर्मसु श्रद्धयान्विताः।
कुर्वन्त्यप्रतिषिद्धानि नित्यान्यपि च कृत्स्नशः ॥
रजसा कुण्ठमनसः कामात्मानोऽजितेन्द्रियाः।

"जो व्यक्ति घर में ही रहकर सकामभाव से गृहस्थाश्रम के धर्मों का ही पालन करता हुआ उनके फलस्वरूप धर्म, अर्थ और काम का सम्पादन कर, पुनः उन्हीं धर्मों का अनुष्ठान करता रहता है वह कामनाओं से मोहित रहने के कारण भगवद्धर्मों से विमुख होकर श्रद्धासमन्वित होकर यज्ञों द्वारा देवताओं एवं पितरों की ही आराधना करता रहता है[१]" (भाग० ३।३२।१-२) तथा "जिनका चित्त इसी लोक में आसक्त है और जो कर्मों में ही श्रद्धा रखते हैं, वे वेदोक्त अनिषिद्ध काम्य कर्मों एवं नित्य कर्मों के साङ्गोपाङ्ग अनुष्ठान में ही लगे रहते हैं। रजोगुण के (आधिक्य के) कारण कुण्ठित मन वाले, विषयसुखों में दत्तचित्त और इन्द्रियसंयम कर सकने में

त्रयीधर्मपराः कामकामा गतागतमवाप्नुवन्ति जन्ममरणपर्यावर्त्तमनुभवन्तो गुणप्रवाहमार्गे पतिता भवन्तीत्यर्थः। अयं जायस्व म्रियस्वेति तृतीयो दुष्टोऽधर्म-(गुण-) प्रवाहमार्ग उक्तः, तत्र अधर्मप्रवाहमार्गे जीवा नाङ्गीकृताः केनापि स्वरूपेण, किन्तु माययेति सिद्धान्तः। (गीतातत्त्वदी० ९।२०-२१)।

एवं बहुप्रकारकं यत्स्वरूपमुक्तं तदज्ञात्वा ये यज्ञादिकमन्यथा कुर्वन्ति सकामास्ते जन्ममरणात्मके संसारे तिष्ठन्तीत्याह द्वाभ्याम्, **'त्रैविद्या'** इति। **त्रैविद्याः** वेदत्रयीनिरूपितकर्मकर्तारः। **सोमपाः** यज्ञशेषामृतपातारः। **पूतपापाः** कर्मिणां पापसम्भवाद्विधूतकल्मषाः। **यज्ञैरेव** वा विधूतकल्मषाः। **मां यज्ञैरिष्ट्वा** मदाज्ञारूपत्वेन भक्तिप्रतिबन्धनिवर्तकत्वमज्ञात्वा तत्स्वरूपं चाज्ञात्वा **स्वर्गतिम्**, इन्द्रादिलोकं **प्रार्थयन्ते** ते पुण्यात्मकं **सुरेन्द्रलोकमासाद्य** प्राप्य **दिवि** स्वर्गे **स्वर्गलोकं विशालं** सकलविषयभोगयोग्यं **भुक्त्वा** भोगेन **पुण्ये क्षीणे** सति **मर्त्यलोकं विशन्ति** प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। **एवं** प्रकारेण **त्रयीधर्म**मिष्टं परित्यज्य **कामकामाः** सन्तोऽनुप्रपन्नाः **गतागतं** जन्ममरणात्मकप्रवाहं **लभन्ते** प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। (गीतामृततरङ्गिणी ९।२०-२१)।

१. देखिए, भाग० ३।३२।१-२ की सुबोधिनी, सुबोधिनीप्रकाश एवं बालप्रबोधिनी टीकाएँ।

पितॄन् यजन्त्यनुदिनं गृहेष्वभिरताशयाः ॥
त्रैवर्गिकास्ते पुरुषा विमुखा हरिमेधसः ।
कथायाः कथनीयोरुविक्रमस्य मधुद्विषः ॥' (भाग०३।३२।१६–१८)

इत्यादिना 'जायस्व म्रियस्व' इति तृतीयमार्गप्रवेशो निरूपित इति ।

ननु, नवविधभक्तौ अर्चनस्यापि उक्तत्वात् कथं न पूजायाः तथात्वम् इति चेत् ?

असमर्थ, घरों में ही आसक्त हृदय वाले ये लोग धर्म, अर्थ और काम को ही पुरुषार्थ समझते हैं, इसलिए ये नित्य-प्रति पितरों की उपासना में ही लगे रहते हैं और जिनके महान् पराक्रम अत्यन्त कीर्तनीय हैं उन मधुसूदन भगवान् श्रीकृष्ण से तथा उनकी लीलाओं की कथाओं आदि से विमुख रहते हैं[1]" (भाग० ३।३२।१६–१८), इत्यादि वाक्यों द्वारा 'जायस्व म्रियस्व' इत्यादिरूप तृतीयमार्ग अर्थात् प्रवाहमार्ग में प्रवेश का निरूपण किया गया है[2]।

इस प्रकार यह निश्चित हो जाने पर कि पुरुषोत्तम भक्ति के अतिरिक्त किसी भी अन्य मार्ग से प्राप्य या साक्षात् रूप से सम्बद्ध नहीं हैं और इसीलिए उन्हें यज्ञादि कर्मों की विधियों का उद्देश्य भी नहीं कहा जा सकता, पूर्वपक्षी पूजा के द्वारा पुरुषोत्तम की प्राप्ति हो सकने के मत की सिद्धि करने के लिए पूजा के भक्ति होने का प्रतिपादन करता है।

पूर्वपक्षी का कहना है कि श्रीमद्भागवत (७।५।२३) में नवविधभक्ति के अन्तर्गत अर्चन का भी उल्लेख किया गया है[3]। यह अर्चन पूजा ही है। अतः पूजा—जो अर्चन का ही पर्याय है—को भी भक्ति क्यों नहीं कहा जा सकता[4] ? अर्थात् पूजा को भक्ति कहने में सिद्धान्ती को क्या आपत्ति हो सकती है ?

---

१. देखिए, भाग० ३। ३२। १६–१८ की सुबोधिनी, सुबोधिनीप्रकाश एवं बालप्रबोधिनी टीकाएँ।

२. देखिए, पृष्ठ ३७ में नीचे टिप्पणी में उद्धृत गीतातत्त्वदीपिका ९। २०–२१

३. श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥ (भाग० ७।५।२३)।

४. तथा चोपासनां कर्मकाण्डं चाऽऽरभ्याधीतायाः पूजाया भक्तित्वाभावेऽपि नवविधभक्त्यन्तःपातिन्यास्तस्याः पूर्वोक्ताविलक्षणत्वाद्भक्तित्वेन रूपेणार्चनविधौ पुरुषोत्तमस्योद्देश्यत्वं दुष्परिहरम्। सिद्धान्तिना श्रवणादिनवकस्य सर्वाविशिष्टत्वेन पुरुषोत्तमपरत्वाङ्गीकारात्। ततश्च प्रतिज्ञाहानिर्वज्रलेपायितेत्यर्थः। (श्रीपुरुषोत्तम-प्रणीतविवेकः, पृष्ठ ४२)।

अत्र वदामः। श्रवणादिनवकमपि अधिकारिभेदेन क्रियमाणं सत् कर्म-ज्ञानोपासनाभक्तिमार्गीयत्वेनानेकविधं भवति। तथा हि[1] श्रीभागवतसहस्र-

---

पूर्वपक्षी उपर्युक्त प्रकार से अर्चन या पूजन को भक्ति और साक्षात् पुरुषोत्तम को उसका उद्देश्य सिद्ध करना चाहता है। इसके उत्तर में सिद्धान्ती अर्चन को भक्ति से बहिर्भूत सिद्ध करने के लिए श्रवणादिनवविध भक्ति के अधिकारी-भेद से होने वाले स्वरूपभेद का उपपादन करते हैं।

श्रीपुरुषोत्तम अपनी विवेकव्याख्या में कहते हैं कि श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध में, **'मदर्पणं निष्फलं वा सात्त्विकं निजकर्म तत्।**
राजसं फलसङ्कल्पं हिंसाप्रायादि तामसम्॥' (भाग० ११।२५।२३)

इत्यादि वाक्य में भगवान् ने एक ही कर्म के अधिकारी-भेद से अनेकरूप होने का प्रतिपादन किया है और गीता में भी इसी प्रकार अधिकारी-भेद से एक ही कर्म के अनेकविध हो जाने का प्रतिपादन किया गया है अतः फलादि की ही भाँति अधिकारी को भी स्वरूपभेदक मानना उचित ही है; और अधिकारी-भेद से श्रवणादि के स्वरूप के भी अनेकविध हो जाने पर उनके अविशिष्टत्व की निवृत्ति हो जाने पर उन्हें भक्ति न कहा जा सकेगा; और ऐसी दशा में उनका उद्देश्य भगवान् की विभूति को ही मानना होगा, साक्षात् भगवान् को नहीं। उनमें प्रवृत्ति का कारण यह भ्रम है कि उनके उद्देश्य साक्षात् भगवान् हैं। इस प्रकार श्रवणादि—और उसके अन्तर्गत आने वाले अर्चन या पूजन—को भक्ति नहीं माना जा सकता और इसीलिए साक्षात् पुरुषोत्तम को उनका उद्देश्य भी नहीं माना जा सकता।

पूर्वपक्षी के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कहते हैं कि भाग० (७।५।२३) में उल्लिखित भक्ति के श्रवण आदि नवों अवान्तर भेद, अधिकारी-भेद से किये जाने पर, कर्ममार्गीय, ज्ञानमार्गीय, उपासनामार्गीय और भक्तिमार्गीय के भेद से अनेकविध

---

१. त्रयाणामसङ्कीर्णोदाहरणमाहुः, 'तथा हि' इति। (भक्तितरङ्गिणी, पृष्ठ ४२–४४)।

एकादशे विंशाध्याये भगवता कर्मज्ञानभक्त्याख्याः त्रयो योगा नृणां श्रेयोऽर्थ-मुक्ता अधिकारिभेदेन निष्कृष्टाश्च। सप्तदशे च,

यथाऽनुष्ठीयमानेन त्वयि भक्तिर्नृणां भवेत्।
स्वधर्मेणारविन्दाक्ष! तन्मे व्याख्यातुमर्हसि॥ (भाग० ११।१७।२)

इति प्रश्ने चातुर्वर्ण्यचातुराश्रम्यधर्माश्चोक्ताः। तथा सति भक्त्यर्थं कर्माणि कुर्वतः सकामस्य कर्मभक्तत्वात् तादृशस्य त्रिवर्गकामनायां तेन क्रियमाणस्य कर्म-

नामादिश्रवणकीर्तनयोः फलत्वेन हि चत्वारोऽप्यर्था उच्यन्ते। तत्र (१) त्रिवर्गकामेन क्रियमाणः श्रवणादिः कर्ममार्गीय एव। तत्रापि अर्थाद्यर्थिभिः विहितत्वेन कृतः चेत् तदा स तथा; वृत्त्यर्थं चेत्, कृषिवल्लौकिक एव। शौचार्थिगङ्गास्पर्शवच्च। न हि तस्य मलनिवृत्त्यतिरिक्तो धर्म उत्पद्यते, प्रत्युत निषिद्धाचरणात् पापमपि।

होते हैं। श्रीमद्भागवत और विष्णुसहस्रनाम आदि के श्रवण एवं पठन से उसके फलरूप में चारों पुरुषार्थों के प्राप्त होने की बात कही गयी है। उनमें से (१) धर्मार्थकामरूप त्रिवर्ग की प्राप्ति की कामना रखने वाले व्यक्ति के (कर्ममार्गी होने के कारण उसके) द्वारा किया जाने वाला श्रवणादि कर्ममार्गीय ही होता है। अर्थ, काम आदि के इच्छुक व्यक्तियों द्वारा शास्त्रविहित होने के कारण (अर्थात् शास्त्र श्रवणादि करने को कहते हैं अतः श्रवणादि करना चाहिए यह सोच कर) किया जाने वाला श्रवणादि भी कर्ममार्गीय होता है।

श्रीरघुनाथ अपनी भक्तितरङ्गिणी में कहते हैं कि यद्यपि 'त्रिवर्ग की प्राप्ति की कामना रखने वाले व्यक्तियों द्वारा किये गये श्रवणादि' के उपर्युक्त कथन में 'अर्थार्थी व्यक्ति द्वारा किया गया श्रवणादि' पूर्वगृहीत हो चुका है, फिर भी उसका यहाँ पुनः उल्लेख 'धर्मविरहित अर्थ आदि की प्राप्ति के इच्छुक व्यक्ति द्वारा किये जाने वाले श्रवणादि' का बोध कराने के अभिप्राय से किया गया है।

वृत्ति[1] अर्थात् जीविकोपार्जन के लिए किया गया श्रवणादि जीविकोपार्जन के लिए की गयी खेती आदि की तरह ही लौकिक ही होता है। ऐसा श्रवणादि शौचार्थी के द्वारा ग्रहण किये जाने वाले गङ्गाजल के समान होता है। जिस प्रकार शौचार्थी शौच के लिए गङ्गाजल का ग्रहण करता है तो उससे भी मलनिवृत्तिमात्र होती है कोई अन्य धर्म नहीं उत्पन्न होता अर्थात् मलनिवृत्तिरूप जिस फल की प्राप्ति किसी अन्य वापी-कूपतडागादि का साधारण जल ग्रहण करने से होती उसी फल की प्राप्ति गङ्गाजल का ग्रहण करने से भी होती है उसकी अपेक्षा किसी विशिष्ट फल की प्राप्ति नहीं होती,

---

मार्गीयत्वम्। उपासनाया अपि मानसकर्मत्वेन तच्छेषस्य तथात्वेऽपि कर्ममार्गीय एवान्तर्भावः। ज्ञानमार्गीयस्य तु तदीयत्वं स्पष्टमेव। भक्तिमार्गीयेऽपि तथात्वं तथा। इत्यभिसन्धायाहुः, 'त्रयाणाम्' इति। एवञ्च कर्मोपासनयोः फलभेदेऽपि कर्ममार्गीयत्वेनैव असङ्कीर्णता। तथैव भक्तिमार्गीयस्यापि, इति त्रित्वं सूपपन्नम्। (तीर्थ, पृष्ठ ४३)।

१. वृत्तिपदमविहितरीतिकपूजाकामयोरप्युपलक्षकम्। (श्रीपुरुषोत्तमप्रणीतविवेकः, पृष्ठ ४५)।

एतेन विहितजातीयं कर्म यथाकथञ्चित्कृतम् उक्तफलाय इति निरस्तम् ।

उसी प्रकार जीविकोपार्जन के लिए किये गये श्रवणादि से भी, जीविकोपार्जन के लिए किये गये किसी अन्य कर्म की भाँति ही, अर्थादि की उपलब्धि ही होती है कोई अन्य विशिष्ट फल प्राप्त नहीं होता। न केवल इतना ही प्रत्युत जीविकोपार्जन के लिए श्रवण कीर्तन आदि करने से व्यक्ति निषिद्ध आचरण का दोषी होता है और निषिद्ध आचरण करने से होने वाले पाप का भागी भी बनता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार शौच के लिए गङ्गाजल का प्रयोग करने वाला व्यक्ति निषिद्ध आचरण के पाप का भागी बनता है वैसे ही जीविका के लिए श्रवणकीर्तनादि करने वाला व्यक्ति भी निषिद्ध आचरण के पाप का भागी होता है।

श्रीपुरुषोत्तम के अनुसार[1] स्मार्तों के मत से शौच के लिए नद्यात्मक गङ्गाजल का स्पर्श करने से ही पाप होता है नदी से किसी पात्र आदि में भर कर ले गये उद्धृत जल का उपयोग करने से नहीं, क्योंकि स्मृतियों में नदी से पात्रादि में भर कर ले जाये गये जल का शौच के लिए उपयोग करने का निषेध उपलब्ध नहीं होता; किन्तु वैष्णवों की दृष्टि में शौच के लिए गङ्गाजल का ग्रहण करना हर स्थिति में पापजनक है चाहे वह नद्यात्मक गङ्गाजल का हो चाहे पात्रादि में गृहीत उद्धृत गङ्गाजल का, क्योंकि उद्धृत गङ्गाजल का शौचादि में उपयोग करने में दोष न मानने पर यह स्वीकार करने का अनिष्टप्रसङ्ग उपस्थित होगा कि चरणामृत आदि का भी तदर्थ उपयोग करने में दोष नहीं है। इस तर्क का तात्पर्य यही है कि यदि यह मान लिया जाएगा कि पवित्र गङ्गाजल को नदी से निकाल कर लोटे में भर लेने से उसकी पवित्रता (समाप्त हो जाती है और इसीलिए वह पवित्रता) शौचादि के लिए उस जल का प्रयोग करने में बाधक नहीं बनती तो यह भी मानना होगा कि पवित्र चरणामृत आदि को भी लोटे में भर लेने आदि से उसकी (पवित्रता समाप्त हो जाती है और इसीलिए वह) पवित्रता शौचादि के लिए उसका उपयोग करने में बाधक नहीं है।

इस प्रकार यहाँ 'श्रवण, कीर्तन आदि जिस भाव से किये जाते हैं उसी के अनुरूप फल देते हैं' यह प्रतिपादित हो जाने से, यह धारणा निरस्त हो जाती है कि विहित कर्म चाहे जिस रूप में किये जाएँ शास्त्रोक्त फल को अवश्य देते हैं।

---

१. गङ्गास्पर्शवद् इत्यत्र गङ्गास्पर्शो नद्यात्मकतत्स्पर्शः न तु उद्धृततज्जल-स्पर्शोऽपि, उद्धृतजलस्य तदर्थं स्पर्शे दोषस्य स्मृत्यनुक्तत्वादिति स्मार्ताः। भगवद्भक्तास्तु तदर्थमुद्धृतजलेऽपि दोषं मन्यन्ते, अन्यथा चरणामृतेनापि तथाकरणे दोषाभावप्रसक्तेः। न च विशेषवचनाभावाल्लोकविद्विष्टत्वाच्चात्र दोषो न तत्रेति वाच्यम्, तस्य अत्रापि तौल्यादिति। (श्रीपुरुषोत्तमप्रणीतविवेकः, पृष्ठ ४५)।

(२) तुरीयाश्रमे ज्ञानोदयहेतुचित्तशुद्धिहेतुत्वेन क्रियमाणः श्रवणादिः ज्ञानमार्गीयः 'यथा यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः' (भाग० ११।१४।२६) इत्यादिवाक्यैः।

(३) साक्षान्मोक्षसाधनत्वेन[1] तान्त्रिकदीक्षापूर्वकं विहितत्वेन क्रियमाणः श्रवणादिरुपासनामार्गीयः। अयमेव वैष्णवमार्ग इत्युच्यते विष्णुधर्मेष्वेव निष्ठावत्त्वात्। मुक्तिसाधनत्वप्रतिपादकवाक्यैरेवमवसीयते[2]।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार वैदिक कर्म साङ्गोपाङ्ग और शास्त्रोक्तविधिपूर्वक किये जाने पर ही अपने फल देते हैं, विधिपूर्वक न किये जाने पर वे कर्म वैदिक कर्म ही नहीं रह जाते और अपना फल नहीं देते उसी प्रकार श्रवणादि भी शास्त्रोक्त प्रकार से किये जाने पर ही अपना फल देते हैं जिस किसी भी भावना से जैसे-तैसे कर लिये जाने पर नहीं।

(२) चतुर्थाश्रम अर्थात् संन्यासाश्रम में, ज्ञान की प्राप्ति के लिए, ज्ञानोदय की हेतुभूत चित्तशुद्धि की कामना से, उस (चित्तशुद्धि) के कारण के रूप में किया जाने वाला श्रवणादि ज्ञानमार्गीय होता है। इस बात की पुष्टि भगवान् के, 'हे उद्धव! मेरी परम-पावन लीला-कथा के श्रवण-कीर्तन से ज्यों-ज्यों अन्तःकरण परिमार्जित होता है' (भाग० ११।१४।२६) इत्यादि[3] वाक्य से होती है।

(३) तान्त्रिक दीक्षापूर्वक साक्षात्[4] (अर्थात् ज्ञान के व्यवधान के विना ही, शुद्ध भावना मात्र से) मोक्ष के साधन के रूप में विहित रूप में किया जाने वाला श्रवणादि उपासनामार्गीय होता है। पञ्चरात्र, पुराण आदि में इस उपासनामार्गीय श्रवणादि को ही वैष्णवधर्मपर वैष्णवमार्ग कहा गया है क्योंकि इसमें विष्णुधर्मों में ही निष्ठा रहती है। इस बात का निश्चय उपासनामार्गीय श्रवणादि के मुक्ति का साधन होने का प्रतिपादन करने वाले वाक्यों से होता है।

---

१. श्रीपुरुषोत्तम के अनुसार इस पद का पाठ 'साक्षान्मोक्षसाधकत्वेन' है।

२. विष्णुधर्मेषु निष्ठावत्त्वं वामवैष्णवेष्वप्यस्ति इति तन्निरासायाहुः, 'मुक्ति' इत्यादि। 'मोक्षमिच्छेज्जनार्दनाद्' इति वाक्यान्मुक्तिदोऽत्र विष्णुरभिप्रेयते न तु शक्तिशेषः प्रेतरूपः। तेन तद्धर्मनिष्ठत्व एव वैष्णवमार्गत्वमन्यथा शाक्तत्वम् इत्यर्थः। (श्रीपुरुषोत्तमप्रणीतविवेकः, पृष्ठ ४८-४९)।

३. यथा यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः।
तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं चक्षुर्यथैवाञ्जनसम्प्रयुक्तम् ॥ (भाग० ११।१४।२६)।

४. ज्ञानाव्यवधानपूर्वकशुद्धभावनामात्रेणेत्यर्थः। (भक्तितरङ्गिणी, पृष्ठ ४६—४७)।

यहाँ 'साक्षात् मोक्ष के साधन के रूप में विहित रूप में किया जाने वाला श्रवणादि' इत्यादि वाक्य का आशय है 'श्रवणादि का फल ज्ञान होता है और ज्ञान का फल मोक्ष होता है' यह मान कर किया जाने वाला श्रवणादि नहीं प्रत्युत 'श्रवणादि से साक्षात् अर्थात् अव्यवहित या विना ज्ञान के व्यवधान के, मोक्ष की प्राप्ति होती है' यह मानकर किया गया श्रवणादि।

'विष्णुधर्मों में निष्ठा' से तात्पर्य गोस्वामिश्रीदीक्षितजी महाराज के अनुसार, विष्णुप्रापक, विष्णुप्रिय धर्मों में निष्ठा' से है।

श्रीपुरुषोत्तम के अनुसार यह वाक्य श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के ग्यारहवें अध्याय की भगवदुक्तियों का संक्षेपण है। इसे स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण ने भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के ग्यारहवें अध्याय में, **'आत्मारामोऽनया वृत्त्या'** (भाग० ११।११।१७) इत्यादि श्लोक तक आत्माराम अर्थात् आत्मनिष्ठ व्यक्ति के धर्मों का निरूपण कर, **'उपारमेत विरजं मनो मय्यर्प्य सर्वगे'** (भाग० ११।११।२१) इत्यादि श्लोक में मन को शुद्ध कर अपने में (अर्थात् भगवान् में) लगाकर शान्ति-लाभ करने का उपदेश दिया है, तथा उसके बाद **'यद्यनीशो धारयितुं मनो ब्रह्मणि निश्चलम्'** (भाग० ११।११।२२) इत्यादि श्लोकों में निरपेक्ष कर्म द्वारा भगवद्भक्ति और उसके द्वारा भगवत्पद की प्राप्ति होने का प्रतिपादन किया है। तदनन्तर उद्धव के **'भक्तिस्त्वय्युपयुज्येत कीदृशी सद्भिरादृता'** (भाग० ११ । ११ । २६) इत्यादि प्रश्न के उत्तर में **'मल्लिङ्गमद्भक्तजनदर्शनस्पर्शनार्चनम्'** (भाग० ११।११।३४) इत्यादि आठ श्लोकों द्वारा पूर्वोक्त उपासना की अङ्गभूत भक्ति का उपपादन करते हुए **'वैदिकी तान्त्रिकी दीक्षा मदीयव्रतधारणम्'** (भाग० ११।११।३७) इत्यादि श्लोक में वैदिकी और तान्त्रिकी दीक्षा का उल्लेख किया है और उपसंहार में,

> **इष्टापूर्तेन मामेवं यो यजेत समाहितः।**
> **लभते मयि सद्भक्तिं मत्स्मृतिः साधुसेवया॥** (भाग० ११।११।४७)

इत्यादि कहा है। इस प्रकार उक्त प्रकरण के, **'सत्सङ्गलब्धया भक्त्या'** (भाग० ११।११।२५) इत्यादि वाक्य में जो कुछ कहा गया है वही प्रकृत वाक्य में **'साक्षान्मोक्षसाधकत्वेन'** पद के द्वारा कहा गया है। वहाँ **'वैदिकी तान्त्रिकी दीक्षा'** (भाग० ११।११।३७) इत्यादि श्लोक में जिस तान्त्रिकी दीक्षा का उल्लेख है उसी का स्मरण प्रकृत वाक्य में **'तान्त्रिकदीक्षापूर्वकम्'** पद द्वारा कराया गया है। वहाँ **'यो यजेत समाहितः'** (भाग० ११।११।४७) इत्यादि वाक्य द्वारा किये गये विध्यनुवाद का स्मरण यहाँ **'विहितत्वेन'** पद द्वारा कराया गया है। वहाँ उपक्रम में

'अर्चायामेव हरय' (भाग० ११।२।४७) इत्यादिवाक्यानामयमेव विषयः ।

'उपासिता' (भाग० ११।११।२५) और उपसंहार में **'समाहितः'** (भाग० ११।११।४७) आदि शब्दों द्वारा प्रतिपादित उपासनामार्गीय होने का यहाँ **'उपासनामार्गीयः'** पद से स्मरण कराया गया है। इस प्रकार प्रकृत वाक्य में श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध में स्वयं भगवान् द्वारा निरूपित सिद्धान्त का ही प्रतिपादन किया गया है[1]।

योगीश्वर हरि के, **'जो व्यक्ति श्रद्धापूर्वक भगवान् के अर्चाविग्रह अर्थात् उनकी मूर्ति में ही उनकी उपासना करता है'** (भाग० ११।२।४७) इत्यादि[2] वाक्यों का विषय यह उपासनामार्गीय श्रवणादि ही हैं।

---

१. अतः सर्वमिदं भगवदुक्तमेव प्रमेयम्। तथापि तत्र वैदिक्या दीक्षाया भक्तिरूपफलस्य च कथनेन तत्प्रावाहिकभक्तिमर्यादाभक्तिसङ्कीर्णमिति तदत्र प्रमाणत्वेन नोदाहृतम्, अत्र विविक्ततत्कथनस्य अभिसंहितत्वादिति। (श्रीपुरुषोत्तमप्रणीत-विवेकः, पृष्ठ ४७)।

२. **अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते।**
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः॥ (भाग० ११।२।४७)

तृतीयमाह, एकत्र भगवन्तं निश्चिन्ततया जानाति पूजाकरणात्, न चायं भक्तिमार्गः, भक्तेषु भावाभावात्, न वा पातिव्रत्यं, अर्चाहर्योर्भेदनिर्देशात्, न वा ज्ञानं, अन्येषु भावाभावात्,चकाराद् भक्ताभक्तयोस्तुल्यता, भेदनिर्देशादस्फुरणपक्षो निराकृतः, अत एकदेशे भगवद्भानात् **प्राकृतो** ज्ञानभक्त एव। (सुबो०११।२।४७)।

अर्चायाम् इति अत्र तुल्यता इति भक्तत्वबाधिकेतिशेषः। **अस्फुरणपक्ष** इति भक्तास्फुरणपक्षः। (सुबो० प्रकाश ११।२।४७)।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥ (गीता ७।१६)

इत्यत्र आर्ताधिकारकभजनस्य सर्वसाधारण्येन प्रावाहिकत्वं वक्तुं तल्लक्षणपूर्वकं स्वरूपमनुवदन्ति, **'अर्चायामेव'** इति। (भक्तितरङ्गिणी, पृष्ठ ४८–४९)।

ननु मुक्तिप्रतिपादकवाक्यानां चेदुपासनामार्गीयः श्रवणादिः विषयः तदा **'अर्चायामेव हरय'** (भाग० ११।२।४७) इत्यादेः को वा विषयः, तत्र भक्तपदेन कर्मज्ञानमार्गीययोः, प्राकृतपदेन भक्तिमार्गीयस्य व्यावर्तनात्, मुक्त्यप्रतिपादनेन अस्यापि वक्तुमशक्यत्वाच्च; इत्याकाङ्क्षायां तादृग्वाक्योक्तसंग्रहाय वदन्तीत्याशयेनाहुः **'चतुर्विधा'** इत्यादि। अस्मिन् वाक्ये... **अर्थार्थिपदेन,**

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥ (भाग० २।३।१०)

(४) भक्तिमार्गीयभक्तकृतभक्तिसाम्प्रदायिकदीक्षापूर्वकं मोक्षसाधनत्वेन क्रियमाणः श्रवणादिः प्रावाहिकी भक्तिः उच्यते । अत एव कपिलदेवेन,

---

(४) मर्यादाभक्तिमार्गीय भक्त आचार्यों (अर्थात् श्रीरामानुजाचार्य आदि) द्वारा प्रवर्तित भक्तिसम्प्रदाय की (नारायणाष्टाक्षर, वासुदेवद्वादशाक्षर आदि की) दीक्षापूर्वक मोक्ष के साधन के रूप में (विहित रूप में) किया जाने वाला श्रवणादि 'प्रावाहिकी भक्ति' कहा जाता है ।

यहाँ प्रावाहिकी का तात्पर्य यही है कि जिस प्रकार लोक-प्रवाह में मुक्ति ही भक्ति के फलरूप में अभिमत होती है वैसे ही यहाँ भी मुक्ति को ही फल माना जाता है । इस प्रकार प्रावाहिकत्व का अभिप्राय केवल मुख्य भक्ति की ही अपेक्षा अपकर्ष द्योतित करना है, 'जायस्व म्रियस्व' इत्यादिरूप प्रवाह का प्रतिपादन करना नहीं । इस प्रावाहिकी भक्ति में उपासनामार्गीय श्रवणादि से साम्य यह है कि दोनों दीक्षापूर्वक मोक्ष के साधन के रूप में और विहितरूप में किये जाते हैं और भेद यह है कि उपासनामार्गीय श्रवणादि तान्त्रिकदीक्षापूर्वक किये जाते हैं जब कि प्रावाहिकी भक्ति मर्यादामार्गीय भक्त आचार्यों द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदायों की दीक्षा लेकर की जाती है ।

इतिद्वितीयस्कन्धोक्तो भगवत्सेवोपयोग्यर्थार्थी ग्राह्यः । तथा सति आर्तो जघन्यत्वेन शिष्यते । तथा च आर्तः सर्वत्र दर्शनात्तदीयस्य भजनस्य उपासनादिमार्गत्रये तथात्वं वक्तुं तथेत्यर्थः । ···न वा ज्ञानम्, अन्येषु भावाभावाच्चकारेण भक्ताभक्तयो-स्तुल्यत्वसूचनाच्च । एकदेशे भगवद्भावादस्य प्राकृतभक्तत्वमिति । तथा चैतादृशस्य भजनस्य विहिततया क्रियमाणत्वेन उपासनामार्गीयत्वे प्रावाहिकोपासकत्वं तथा प्रावाहिकज्ञानिभक्तत्वमित्येवं ज्ञेयमित्यर्थः । तेन अन्यत्र भगवद्भावरहितत्वे सति एकदेशे भगवज्ज्ञानवत्त्वं प्रावाहिकत्वमिति तत्स्वरूपं सिद्ध्यति । (तीर्थ, पृष्ठ ४८—५०)।

ननु यत्र मुक्तिर्नोक्ता 'अर्चायामेव' (भाग० ११।२।४७) इत्यादौ तत्र प्रतिमायामेव तस्य भगवद्बुद्ध्यान्यत्र भावाभावेन ज्ञानित्वस्याशक्यवचनत्वाद्भक्तेषु भावाभावेन भक्ताभक्तयोस्तौल्यसूचनेन च भक्तिमार्गीयत्वस्याप्यशक्यवचनत्वादर्चा-हर्योर्भेदनिर्देशेन पातिव्रत्यधर्मत्वस्यापि तथात्वात्कुत्र निवेश इत्याकाङ्क्षायामाहुः, 'अर्चायाम्' इत्यादि । ज्ञानिभक्तयोर्व्युदासे भक्तपदेन कर्मिणोऽपि व्युदासे श्रद्धापदेन विष्णुधर्मनिष्ठाप्राप्त्या प्राकृतपदेन ज्ञानिभक्तापेक्षया हीनोऽभिप्रेयत इति तादृशोऽ-यमेव मार्गो विषय इत्यर्थः । असङ्कीर्णत्वादिदमत्रोक्तम् । (श्रीपुरुषोत्तमप्रणीतविवेकः, पृष्ठ ४९—५०) ।

'न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि ।
सदृशोऽस्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्धये ॥' (भाग० ३।२५।१९)

इत्युपक्रम्य सतां लक्षणमुक्त्वा,

'त एते साधवः साध्वि सर्वसङ्गविवर्जिताः ।
सङ्गस्तेष्वथ ते प्रार्थ्यः सङ्गदोषहरा हि ते ॥' (भाग० ३।२५।२४)

'सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः ।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धारतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥
(भाग० ३।२५।२५)

इत्यादि निरूपितम् । अत्र 'अपवर्गवर्त्मनि' इति पदेन उक्तरूपत्वमवधेयम् ।

(५). प्रेमात्मकभक्तिसाधनत्वेन[1] क्रियमाणः श्रवणादिः भक्तिमार्गे

इसीलिए महर्षि कपिल ने 'योगियों के लिए ब्रह्मप्राप्ति के लिए अखिलात्मा भगवान् हरि की भक्ति के समान मङ्गलमय अन्य कोई मार्ग नहीं है', (भाग० ३।२५।१९) इत्यादि उपक्रमपूर्वक परवर्ती श्लोकों (भाग० ३।२५।२०—२३) में साधुजनों का लक्षण बताकर, 'हे साध्वि ! इस प्रकार के सर्वसङ्गरहित महापुरुष ही साधु होते हैं, तुम्हें उन्हीं के सङ्ग की इच्छा करनी चाहिए क्योंकि वे आसक्ति (सङ्ग) से उत्पन्न होने वाले सभी दोषों को दूर कर देने वाले होते हैं । (इस प्रकार के) सत्पुरुषों के समागम से मेरे पराक्रमों का यथार्थ ज्ञान कराने वाली तथा हृदय एवं कानों को प्रिय लगने वाली कथाएँ होती हैं और उन कथाओं का प्रीतिपूर्वक सेवन करने से शीघ्र ही मोक्षमार्ग में श्रद्धा, प्रेम और भक्ति का क्रमशः विकास होता है' (भाग० ३।२५।२४-२५) इत्यादि का प्रतिपादन किया है । कपिल के उपर्युक्त वाक्य में आये 'अपवर्गवर्त्मनि' अर्थात् मोक्षमार्ग में (श्रद्धा, प्रेम और भक्ति का विकास होता है) इत्यादि पद से यहाँ निरूपित श्रवणादि के प्रावाहिकी (अर्थात् मुक्ति की कामना से की जाने वाली) भक्ति होने का निश्चय होता है ।

तात्पर्य यह है कि कपिल के उपर्युक्त वाक्यों में मोक्षमार्ग में श्रद्धा, रति आदि को श्रवणादि का फल बताया गया है अतः यह श्रवणादि उसका साधन होने के कारण प्रावाहिकी भक्ति ही कहा जाएगा ।

(५). प्रेमात्मक भक्ति की प्राप्ति के साधन के रूप में किया जाने वाला श्रवण-

---

१. फलरूपामाहुः, 'प्रेमात्मक'—इति । (भक्तितरङ्गिणी, पृष्ठ ५१)। 'फलरूपामाहुः' इति । फलरूपायाः स्वरूपमाहुरित्यर्थः । (तीर्थ, पृष्ठ ५१—५२) ।

मर्यादाभक्तिरित्युच्यते, **'श्रद्धामृतकथायां मे'**[1] (भाग०११।१९।१०) इत्युपक्रम्य,

'एवं धर्मैर्मनुष्याणाम् उद्धवात्मनिवेदिनाम् ।
मयि सञ्जायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते ॥' (भाग०११।१९।२४),
'भक्त्या सञ्जातया भक्त्या'[2] (भाग०११।३।३१)

इत्यादिवाक्यैः तत्साधनत्वं ज्ञेयम् ।

कीर्तनादि भक्तिमार्ग में मर्यादाभक्ति[3] कहा जाता है। भगवान् द्वारा **'मेरी अमृतमयी कथा में श्रद्धा'** (भाग०११।१९।२०) इत्यादि उपक्रमपूर्वक कहे गये, **"हे उद्धव! आत्मनिवेदन करने वाले मनुष्यों की इन धर्मों का पालन करने से मुझमें भक्ति उत्पन्न हो जाती है और तब उनके लिए कौन अर्थ प्राप्त करना शेष रह जाता है?"** (भाग० ११।१९।२४) इत्यादि वाक्यों तथा महर्षि प्रबुद्ध के राजा निमि से कहे गये, **'(साधन रूपा) भक्ति से उत्पन्न होने वाली (प्रेमलक्षणा, फलरूपा) भक्ति से'** (भाग०११।३।३१), इत्यादि वाक्यों से उपर्युक्त मर्यादाभक्ति के स्नेह या प्रेमात्मक, फलरूपा भक्ति के साधन होने का बोध होता है।

इस वाक्य की व्याख्या के प्रसङ्ग में मर्यादाभक्ति के स्वरूप का निरूपण करते हुए श्रीपुरुषोत्तम कहते हैं कि श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के उन्नीसवें अध्याय में भगवान् द्वारा, 'मैं तुम्हें **अपनी भक्ति की प्राप्ति का परम कारण बताऊँगा'** (भाग० ११।१९।१९) इत्यादि उपक्रमपूर्वक कहे गये,

---

१. **श्रद्धामृतकथायां मे शश्वन्मदनुकीर्तनम् ।**
परिनिष्ठा च पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम ॥ (भाग०११।१९।२०)।

२. **स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम् ।**
भक्त्या सञ्जातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम् ॥ (भाग०११।३।३१)।

एवमच्छिद्रतया श्रवणकीर्तनादिसम्पत्तौ सर्वतः क्षरणजलमिव प्रेमभक्तिरुत्पद्यते तया व्यापिका भक्तिरुद्गच्छति यया शरीरं पूर्यते ततः शरीरस्य गाढत्वादुत्पुलकत्वम् । (सुबो०११।३।३१)।

एवं श्रवणादिसाधनभक्त्या **सञ्जातया** प्रेमलक्षणया भक्त्या। **अघौवहरं** भक्तानामविद्यादिसर्वदोषहरं **हरिं** स्वयं **स्मरन्तः मिथः स्मारयन्तश्च उत्पुलकां** रोमोद्गमयुक्तां **तनुं बिभ्रति** इति अन्वयः। (बालप्रबो०११।३।३१)।

३. परतः पुरुषार्थत्वेन साधनकरणादस्य मर्यादाभक्तित्वम् । (श्रीपुरुषोत्तमप्रणीतविवेकः, पृष्ठ ५२)।

श्रद्धामृतकथायां मे शश्वन्मदनुकीर्तनम् ।
परिनिष्ठा च पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम ॥ (भाग० ११।१६।२०)
आदरः परिचर्यायां सर्वाङ्गैरभिवन्दनम् ।
मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः ॥ (भाग० ११।१६।२१)
मदर्थेष्वङ्गचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम् ।
मय्यर्पणं च मनसः सर्वकामविवर्जनम् ॥ (भाग० ११।१६।२२)
मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च ।
इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद् व्रतं तपः ॥ (भाग० ११।१६।२३)

इत्यादि श्लोकों में प्रतिपादित भक्तिप्रकार मर्यादाभक्ति ही है । वे लिखते हैं,

"अत्रोक्तैकादशीयसन्दर्भे आत्मनिवेदनपूर्वकमेव श्रद्धादीनां कथनात्तत्पूर्वककथाश्रद्धा, निरन्तरकीर्त्तनं, पूजानिष्ठा, स्तुतिकरणकस्तवनं, परिचर्यादरः, साष्टाङ्गप्रणामः, भक्तेष्वधिकपूजा, सर्वभूतेषु भगवद्भावः, भगवदर्थं लौकिकी क्रिया, लौकिकगाथया भगवद्गुणकथनं गानं च, भगवति मनोऽर्पणं, सर्वकामत्यागः, भगवद्भजनार्थं तद्विरोधिनामर्थभोगसुखानां त्यागः, इष्टदत्तहुतजप्तादीनां वैदिकानां व्रततपआदीनां स्मार्त्तानां च भगवदर्थत्वमित्येतेषां करणं मर्यादाभक्तिरित्यर्थः ।" (श्रीपुरुषोत्तम-प्रणीतविवेकः, पृष्ठ ५२) ।

भगवान् ने इस पूजा-प्रकार को उपक्रम में 'भक्ति का परम कारण' (**'मद्भक्तेः कारणं परम्'**—भाग० ११।१६।१६) कहा है तथा उपसंहार में,

एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् ।
मयि सञ्जायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते ॥ (भाग० ११।१६।२४)

इत्यादि वाक्य में इसके फल के उत्कर्ष का प्रतिपादन किया है । इससे इसका अन्य पूजा-प्रकारों से उत्कृष्ट होना स्पष्ट है । इसे 'परम कारण' कहने का तात्पर्य यही है कि इससे शीघ्र और नियतरूप से भक्ति की प्राप्ति होती है । वे आगे लिखते हैं,

"किञ्च । अत्र द्विविधाया अपि दीक्षाया अनुक्तत्वात्, **'कथयिष्यामि'** इति प्रतिज्ञानाच्च स्वकृतोपदेशपक्ष एव भगवतोऽभिप्रेत इति ज्ञायते । तथा सति **'एवं धर्मैः……'** (भाग० ११।१६।२४) इति वाक्यगतं **'मयि'** इति पदं पूर्वार्द्धेऽपि युज्यमानं कृष्ण एव भगवति सम्प्रदायरीतिकात्मनिवेदनोपदेशं गमयति । गारुडे तु,

सकृदेव प्रपन्नो यस्तवास्मीति च यो वदेत् ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददात्येतद्व्रतं हरेः ॥ (गरुडपु० २६६।११)

इति विष्णुभक्त्यध्याये कण्ठत एवोक्तम् । गीतायामेकादशे च शरणगमनोपदेशाच्च सा ततः पूर्वा कक्षा । तथा सति तदुभयोपदेशपूर्वकं तथा क्रियमाणः श्रवणादिः

(६) स्नेहोत्पत्त्यनन्तरं स्वव्यसनतः[1] स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वेन क्रियमाण उत्तमः पुष्टिभक्तिरूपः[2]।

मर्यादाभक्तिरिति सिद्धयति। उपदिश्यमानमन्त्रस्वरूपादिकं मया उपदेशवादे प्रपञ्चितं-मिति नात्र पुनरुच्यते।" (श्रीपुरुषोत्तमप्रणीतविवेकः, पृष्ठ ५२—५३)।

'भक्त्या सञ्जातया भक्त्या' (भाग० ११।३।३१) इत्यादि उद्धरण का स्वारस्य स्पष्ट करते हुए श्रीपुरुषोत्तम कहते हैं कि, "श्रीमद्भागवत के उपर्युक्त **'एवं धर्मैः'** (भाग० ११। १९। २४) इत्यादि श्लोक में 'धर्म' पद का प्रयोग किया गया है अतः स्नेह के साधनभूत श्रवणादि को भक्ति कहना ठीक नहीं है" इस आशङ्का का निरास करने के लिए ही मूलग्रन्थ में **'भक्त्या सञ्जातया भक्त्या'** (भाग० ११।३।३१) इत्यादि श्लोक उद्धृत कर यह सूचित किया गया है कि यहाँ भक्ति के साधन के लिए भी 'भक्ति' पद का प्रयोग उपलब्ध होने से यह सिद्ध होता है कि **'एवं धर्मैः'** (भाग० ११।१९।२४) इत्यादि श्लोक में **'धर्म' पद** भगवद्धर्मपरक है, अतः श्रवणादि को भक्ति कहने में कोई असङ्गति नहीं है।

अब सिद्धान्ती फलदशापन्न स्वतन्त्रपुरुषार्थरूप श्रवणादि अर्थात् पुष्टिभक्ति का स्वरूप बताते हुए उसके सर्वोत्कृष्ट होने का प्रतिपादन करते हैं, यह स्पष्ट करते हुए श्रीरघुनाथ लिखते हैं, 'फलदशापन्नभक्तिस्वरूपमाहुः, **'स्नेहोत्पत्ति—'** इति।' (भक्तितरङ्गिणी, पृष्ठ ५३)। उनके इस वाक्य की व्याख्या करते हुए श्रीपुरुषोत्तम कहते हैं, "पुष्टिभक्तिस्वरूपं विवृण्वन्ति, **'फलदशापन्न—'** इत्यादि" (श्रीपुरुषोत्तम-प्रणीतविवेकः, पृष्ठ ५४)।

(६) स्नेहोत्पत्ति के बाद व्यसन के कारण ही सहज भाव से, (न कि विहित होने के कारण,) स्वतन्त्र पुरुषार्थ के रूप में (न कि किसी अन्य फल की प्राप्ति के साधन के रूप में,) किया जाने वाला श्रवणादि पुष्टिभक्तिरूप होता है और (किसी फल की आकाङ्क्षा के विना ही किया जाने के कारण) यह श्रवणादि ही सर्वोत्तम होता है।

इसके स्वतन्त्रपुरुषार्थरूप और उत्तम होने का स्पष्टीकरण देते हुए श्रीरघुनाथ लिखते हैं, "स्वभावतः सर्वेन्द्रियवृत्तीनां स्वरूपैकविषयत्वेन कामिन्यासक्त-

---

१. भगवद्भिन्नरागनिवर्तको भगवद्भावः स्नेहः।……सेवाश्रवणादिवृत्त्या वर्द्धमानः स एव आसक्तिरूपो भवति।……भगवदितरविषयबाधकत्वस्फूर्तिसम्पादको भाव आसक्तिः।……स एव उत्तरोत्तरं वृद्धो व्यसनत्वं प्राप्नोति। विशेषेण अस्यन्ते क्षिप्यन्ते दैहिका धर्मा अनेन इति व्यसनम्। (प्रमेयरत्नार्णवः, पृष्ठ १२३—१२५)।

'यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि।' (**भक्तिवर्द्धिनी, ५**)।

२. विशेषानुग्रहजन्या या भक्तिः सा पुष्टिभक्तिः। तल्लक्षणं तु भगवत्स्वरूपाति-

'मत्सेवया प्रतीतञ्च सालोक्यादिचतुष्टयम् ।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत्कालविप्लुतम् ॥'[1] (भाग०९।४।६७),
'नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्पादसेवाभिरता मदीहाः[2]।'(भाग०३।२५।३४),

---

मनस इव यत्किञ्चित्क्रियमाणमपि तद्विषयकमेव भवत् पर्यवस्यतीत्यतः स्वतन्त्र-पुरुषार्थत्वम्, अग्रे फलाकाङ्क्षाविरहादुत्तमत्वञ्च दोषमात्रस्य आशङ्कितुमप्यशक्य-त्वादित्यर्थः।" (भक्तितरङ्गिणी, पृष्ठ ५४–५६)।

श्रीमद्भागवत के स्वयं भगवान् द्वारा कहे गये, "मेरी सेवा से ही परिपूर्ण अर्थात् निर्वृतान्तःकरण होकर कृतकृत्य हो गये मेरे (पूर्वोक्त समदर्शी साधु) भक्त, मेरी सेवा (अर्थात् भक्ति) से प्राप्त हुई सालोक्य, सामीप्य, सायुज्य और सार्ष्टि रूप चतुर्विध मुक्ति को भी स्वीकार नहीं करना चाहते[3] तो कालक्रम से नष्ट हो जाने वाले इन्द्रादि पद के ऐश्वर्य आदि की तो बात ही क्या है।" (भाग०९।४।६७), "कुछ, मेरी चरणसेवा में ही प्रीति रखने (की मनोवृत्ति) वाले और मुझसे ही सम्बद्ध चेष्टाएँ करने वाले भक्त, मेरे साथ एकात्मता (अर्थात् सायुज्य मुक्तिरूप फल) की भी स्पृहा नहीं करते।" (भाग०३।२५।३४) इत्यादि, श्रीशुकदेव द्वारा कहे गये,

---

रिक्तफलाकाङ्क्षारहितत्वे सति भगवत्स्वरूपात्मकफलाकाङ्क्षावत्त्वम्। (प्रमेय-रत्नार्णवः, पृष्ठ ८१–८२)।

देखिए, ऊपर पृष्ठ १६, तथा प्रमेयरत्नार्णवः, पृष्ठ ८१–८३.

१. भावार्थदीपिकाप्रकाश, अन्वितार्थप्रकाशिका, सिद्धान्तप्रदीप और बाल-प्रबोधिनी टीकाओं में **'कालविद्रुतम्'** तथा भागवतचन्द्रिका, क्रमसन्दर्भ, सारार्थ-दर्शिनी और भक्तमनोरञ्जनी टीकाओं में **'कालविप्लुतम्'** पाठ मिलता है। इस पाठभेद से अर्थ में कोई अन्तर नहीं आता।

२. **'नैकात्मताम्'** इति। इयं हि फलरूपा भक्तिर्ज्ञातव्या। ते भक्ता यावज्जीवन्ति च तावत्फलरूपां भक्तिं कुर्वन्तीत्यर्थः। फलरूपता तदैव भवति यदा भजनाद्रसो ऽभिव्यक्तो भवति बहुधा तस्य अभिव्यक्तेर्निदर्शनम्, भगवत **एकात्मतां** सायुज्यरूपं फलं न **स्पृहयन्ति**। प्रार्थना दूरे। ते भक्तेषु विरलाः प्रसङ्गात् निरूप्यन्ते। **केचिद्** इति दुर्लभाः। तेषां कायवाङ्मनोवृत्तिः स्वभावत एव भगवति भवतीत्याह, **'मत्पाद–'** इत्यादिना। मम पादसेवायामेव **अभिरतिः** मनोवृत्तिः येषाम्। सर्वतो गत्वा भगवत्कार्यं कर्तव्यमिति। पद्भ्यां सेवा इत्यर्थः। अन्यत्तु सुखं गमनान्तरसाध्यम्। इयं मनोवृत्तिर्निरूपिता। कायिकीमाह, **मदीहा** इति। मत्सम्बन्धिन्येव ईहा चेष्टा येषाम्। (सुबो०३।२५।३४)।

३. का त्वं ? मुक्तिरुपागतास्मि; भवती कस्मादकस्मादिह ?

'महतां मधुद्विट्सेवानुरक्तमनसामभवोऽपि फल्गुः[1] ॥' (भाग०५।१४।४४),
'नारायणपरा लोके न कुतश्चन बिभ्यति ।
स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः ॥' (भाग०६।१७।२८)
इत्यादिवाक्यैः तथात्वं ज्ञेयम् ।

"मधुसूदन भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा में अनुरक्त मन वाले महात्माओं के लिए मोक्ष भी तुच्छ है।" (भाग० ५।१४।४४) इत्यादि तथा भगवान् शङ्कर के द्वारा कहे गये, "भगवान् नारायण में निष्ठा रखने वाले भक्त लोक में किसी से भी नहीं डरते क्योंकि वे स्वर्ग, नरक और मोक्ष (तीनों को भक्तिसुखरहित होने के कारण समानरूप से अरुचिकर मान कर, तीनों) में समदृष्टि रखते हैं[2]।" (भाग०६।१७।२८) इत्यादि वाक्यों से फलरूप श्रवणादि[3] के सर्वोत्तम होने का ज्ञान होता है।

ईस प्रकार 'अत्र वदामः' (ऊपर पृष्ठ ३९) इत्यादि वाक्य से प्रारम्भ कर 'तथात्वं ज्ञेयम्' से समाप्त होने वाले प्रकृत वाक्य तक अधिकारी-भेद से श्रवणादि के अनेकविध होने का प्रतिपादन किया गया।

श्रीकृष्णस्मरणेन देव ! भवतो दासीपदं प्रापिता ॥
दूरे तिष्ठ मनागनागसि कथं कुर्यादनार्यं मयि ।
त्वद्दानान्निजनामचन्दनरसालेपस्य लोपो भवेत् ॥

मिलाइए, न मोक्षस्याकाङ्क्षा भवविभववाञ्छापि च न मे ।
न विज्ञानापेक्षा शशिमुखि! सुखेच्छापि न पुनः ॥
अतस्त्वां संयाचे जननि ! जननं यातु मम वै ।
मृडानी शर्वाणी शिव शिव भवानीति जपतः ॥
(श्रीशङ्कराचार्यकृतदेव्यपराधक्षमापनस्तोत्र, ८).

१. यो दुस्त्यजान् क्षितिसुतस्वजनार्थदारान् प्रार्थ्यां श्रियं सुरवरैः सदयावलोकाम्। नैच्छन्नृपस्तदुचितं महतां मधुद्विट्सेवानुरक्तमनसामभवोऽपि फल्गुः।(भाग०५।१४।४४)

२. एवं माहात्म्ये उक्तमेव भगवत्परत्वं हेतुं स्पष्टयति, 'नारायण-' इति। भयाभावे हेतुमाह, 'स्वर्ग-' इति। स्वर्गादिष्वपि भक्तिसुखराहित्येन अरोचकत्वाविशेषेण तुल्योऽर्थः प्रयोजनमिति द्रष्टुं शीलं येषां ते तथा। (बालप्रबो०६।१७।२८)।

३. सेवापदेन सातत्याभीक्ष्ण्यान्यतरपूर्वकः कायिकव्यापारविशेष उच्यते...। स चात्र प्रकरणबलात्परिचर्यारूप एव। तस्याश्च कायक्लेशाधायकत्वेन स्वतः पुरुषार्थत्वाभावेऽपि अत्र पूर्णत्वादिकथनात् स्नेहात्मकमनोवृत्तिपूर्वकत्वादिकं लभ्यते, लोके तथा दर्शनात्। श्रवणादीनां त्वत्र स्नेहसिद्धया अर्थाल्लाभः। एतद्बोधनायात्र 'इत्यादि' इत्यादिपदम्। (श्रीपुरुषोत्तमप्रणीतविवेकः, पृष्ठ ५५)।

तेन[1] भक्तिपदस्य शक्तिः स्नेह[2] एव।

अब सिद्धान्ती पूजा को भक्ति मानने के मत का निराकरण करने के लिए 'भक्ति' पद की शक्ति का निर्धारण करने में प्रवृत्त होते हैं।

इस प्रकार अनेकविध श्रवणादि के फलों के तारतम्य के उपर्युक्त विचार से सिद्ध होता है कि 'भक्ति' पद की शक्ति 'स्नेह' में ही है।

इस वाक्य का अर्थ स्पष्ट करते हुए श्रीपुरुषोत्तम कहते हैं कि यद्यपि धात्वर्थ का विचार करने से 'भक्ति' पद की शक्ति 'सेवा' में प्रतीत होती है[3] फिर भी श्रीमद्भागवत के पूर्वोद्धृत,

मत्सेवया प्रतीतञ्च सालोक्यादि चतुष्टयम्।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत्कालविप्लुतम्॥ (भाग०९।४।६७)

इत्यादि वाक्यों में प्रयुक्त **'पूर्णाः'** इत्यादि पदों की अन्यथानुपपत्ति के बल से 'भक्ति' पद की शक्ति 'स्नेह' में होने का निश्चय होता है[4]। नारदपञ्चरात्र में तो **'स्नेहो**

१. फलतारतम्यविचारेणेत्यर्थः। (भक्तितरङ्गिणी, पृष्ठ ५६)।

२. श्रीवल्लभाचार्य तत्त्वार्थदीपनिबन्ध में लिखते हैं,

भक्तिस्वरूपमाह—

माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तः, तया मुक्तिर्न चान्यथा॥ (शास्त्रार्थप्र० का० ४२)
स्नेहो भक्तिः। (शास्त्रार्थप्र० प्र० ४२)।

भक्तिशब्दस्य प्रत्ययार्थः प्रेम, धात्वर्थः सेवा, **'भक्त्यैव तुष्टिमभ्येति'** इति-वाक्यात्, **'पश्यन्ति ते मे'** (भाग०३।२५।३५) इति च। (सर्वनिर्णयप्र० प्र० ९२)।
मिलाइए, भजधातोस्तु सेवार्थः, प्रेम क्तिन्-प्रत्ययस्य च।

स्नेहेन भगवत्सेवा **भक्तिरित्यभिधीयते**॥ (सत्सङ्गिजीवनम्,१।३६।१)।
माहात्म्यज्ञानयुग्भूरिस्नेहो भक्तिश्च माधवे। (शिक्षापत्री १०३)।

३. 'भक्ति' पद की निष्पत्ति सेवार्थक (भ्वादिगणीय, उभयपदी, सेट्) **'भज'** धातु ('भज' सेवायाम्—धातुसंख्या १०२३) में **'क्तिन्'** प्रत्यय लगाने से होती है। देखिए, ऊपर इसी पृष्ठ की टिप्पणी २.
मिलाइए, **'भज'** इत्येष वै धातुः सेवायां परिकीर्तितः।
तस्मात्सेवा बुधैः प्रोक्ता भक्तिः साधनभूयसी॥ (गरुडपु०२१९।३)।

४. आचार्यैस्तु **'भक्तिपदस्य धात्वर्थः सेवा, प्रत्ययार्थः प्रेम'** (सर्वनिर्णयप्र० प्र० ९२) इति निबन्धे उक्तमुपपादितञ्च। अतः प्रेम्णा सेवायां भक्तिपदशक्तिः पर्यवस्यति। (श्रीपुरुषोत्तमप्रणीतविवेकः, पृष्ठ ५८)।

श्रवणादिषु तद्धेतुत्वेन तत्प्रयोगो भाक्तः। अत एव,

सालोक्य-सार्ष्टि-सामीप्य-सारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥(भाग० ३।२९।१३)

इति लक्षणमुक्त्वा **'स एव भक्तियोगाख्य'** (भाग० ३।२९।१४) इति लक्ष्यमुक्तम्, अन्यथा आख्यापदमनर्थकं स्याद् एवकारश्च।

भक्तिरिति प्रोक्तः[1]" ऐसा स्पष्ट शब्दों में कहा गया है। शाण्डिल्यभक्तिसूत्र में भी, **'अथातो भक्तिजिज्ञासा'** (शा० भक्तिसूत्र १।१।१) इस प्रकार प्रतिज्ञा कर भक्ति का लक्षण करते हुए यही कहा गया है कि भक्ति ईश्वर में परानुरक्तिस्वरूप है, **'सा परानुरक्तिरीश्वरे'** (शा० भक्तिसूत्र १।१।२)।

कहीं कहीं श्रवणादि (अर्थात् नैरपेक्ष्यपूर्वक श्रवणादि) के लिए 'भक्ति' पद का प्रयोग हुआ है वह इसी कारण कि वह श्रवणादि भक्ति का हेतु होता है, अतः वह प्रयोग भाक्त अर्थात् गौण है। इसीलिए भागवत के तीसरे स्कन्ध में भगवान् ने **'मेरे भक्त मेरी सेवा छोड़कर सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और एकत्व स्वीकार करने को भी प्रस्तुत नहीं होते**[2]" (भाग० ३।२९।१३) आदि वाक्य द्वारा भक्ति का लक्षण कहकर, **'उसी**

'प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतः, तयोस्तु प्रत्ययः प्राधान्येन' इति नियमाद् अत्र धातुसामान्यार्थे शक्तोऽपि क्तिन्—प्रत्ययो भजिसमभिव्याहारात् प्राधान्येन भजनक्रियां वक्ति। सा च सेवात्मिका। सेवापदञ्च सातत्याभीक्ष्ण्यान्यतरपूर्वककायिकव्यापार-विशेषे रूढम्। स्त्रीसेवा, औषधसेवेत्यादिप्रयोगदर्शनात्। तादृशव्यापारविशेष-परिचर्यारूप एव, स्वतन्त्रसेवाबोधकैः **'मत्सेवया प्रतीतं च'** (भाग० ९।४।६७) इत्यादिवाक्यैरवगम्यते। तेषु सेवया पूर्णत्वादिकथनात् प्रेमपूर्वकत्वमपि लभ्यते। अन्यथा तस्याः कायक्लेशजनकत्वेन स्वतः पुरुषार्थत्वोक्तिभङ्गप्रसङ्गात्। एवं सति प्रेम्ण एव प्रयोजकत्वेन तस्य प्राधान्यं गम्यते। भक्तिलक्षणवाक्यैः, **'भक्त्यैव'** इति वाक्याच्च। अतः स एव प्रत्ययार्थः। कायिक्यादिरूपा त्वप्रधानत्वात् प्रकृत्यर्थः' साऽपि, **'मत्पादसेवाभिरता मदीहाः…'**(भाग० ३।२५।३४) इति सेवनमुपक्रम्योक्तेन, **'पश्यन्ति ते'** (भाग० ३।२५।३५) इति वाक्येनावगम्यते। अतः, **'भक्त्या मामभि…'** (गीता १८।५५) इत्यादावुभयं सङ्गृह्यत इत्यतः प्रेमसेवात्र तथोच्यत इत्यर्थः।

(सर्वनिर्णयप्र० प्र० ९२)।

१. देखिए ऊपर पृष्ठ ५२ टिप्पणी २ में उद्धृत श्रीवल्लभाचार्यकृत तत्त्वार्थदीपनिबन्ध के शास्त्रार्थप्रकरण की बयालीसवीं कारिका। इसे श्रीवल्लभाचार्य ने नारदपञ्चरात्र से लिया है।

२. सालोक्यम् समाने लोके वैकुण्ठे स्थितिः। **सार्ष्टिः** समानैश्वर्यम्। **सामीप्यम्**

एवं सति पूर्वोक्तेष्वौपचारिको भक्तिपदप्रयोग इति ज्ञापितं भवति। स्नेह-वशेन क्रियमाणाः ते स्नेहमध्यपातिन एव।

को भक्तियोग यह आख्या है अर्थात् वही भक्तियोग कहा जाता है" (भाग० ३।२६।१४) इत्यादि वाक्य द्वारा 'भक्तियोग' पद से लक्ष्य का उल्लेख किया है। ऐसा न मानने पर अर्थात् 'भक्ति' पद का मुख्यार्थ स्नेह न मानने पर पूर्वोक्त वाक्य में (लक्ष्यलक्षणकथन के अनावश्यक होने के कारण) 'आख्या' पद और (अन्ययोगव्यवच्छेद के अनपेक्षित होने के कारण) 'एव' पद निरर्थक हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में भगवान् के इन वाक्यों से यही सूचित होता है कि पूर्वोक्त श्रवणादि के लिए किया जाने वाला 'भक्ति' पद का प्रयोग औपचारिक है अर्थात् श्रवणादि को यदि कहीं 'भक्ति' कहा गया है तो वह केवल उपचारवश कहा गया है।

पूर्वपक्षी का कहना है कि यदि 'भक्ति' पद का मुख्यार्थ स्नेह ही है तथा स्नेह-व्यतिरिक्त स्थलों में भक्ति पद का प्रयोग भाक्त या गौण है तो पुष्टिमार्गीय श्रवणादि के लिए प्रयुक्त भक्ति शब्द को भी गौण ही मानना चाहिए और उस श्रवणादि को भी भक्ति नहीं कहना चाहिए। पूर्वपक्षी की इस आशङ्का का निरास करते हुए सिद्धान्ती कहते हैं कि,

पूर्वोक्त पुष्टिमार्गीय श्रवणादि स्नेहवश किये जाने के कारण स्नेहमध्यपाती ही हैं अर्थात् स्नेह के ही अन्तर्गत आते हैं, अतः यह कहना ठीक न होगा कि 'भक्ति' पद का मुख्यार्थ स्नेह मानने पर उन्हें भक्ति न कहा जा सकेगा।

सिद्धान्ती के कथन का आशय यह है कि यद्यपि स्नेह के आन्तर और श्रवणादि के बाह्य होने के कारण दोनों एकरूप नहीं हैं फिर भी स्नेहोत्पत्ति के बाद किये जाने वाले पूर्वोक्त श्रवणादि स्नेहान्तःपाती होकर स्नेह के ही समान भक्ति कहे जाने लगते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे अन्य नदियों-नालों आदि का जल (गङ्गान्तः-पाती हो कर अर्थात्) गङ्गा के प्रवाह में मिल कर गङ्गाजल कहा जाने लगता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार गङ्गान्तःपाती बाह्य जल के लिए किया जाने वाला 'गङ्गा' पद का प्रयोग लाक्षणिक नहीं होता वैसे ही स्नेहान्तःपाती श्रवणादि के लिए किये जाने वाले 'भक्ति' पद के प्रयोग को भी लाक्षणिक नहीं मानना चाहिए।

पार्षदत्वम्। सारूप्यम् सौन्दर्याद्यविशेषप्रतीतिः। एकत्वम् स्वरूपे प्रवेशः। (भक्ति-तरङ्गिणी, पृष्ठ ५७)

देखिए, नीचे, पृष्ठ ६६ पर टिप्पणी में उद्धृत सुबोधिनी ३।२९।१३.

१. भक्तियोग इति तस्यैव नाम। स एव आत्यन्तिक इति उदाहृतः। (सुबो० ३।२९।१४)।

अथवा, साक्षात्पुरुषोत्तमप्रापकत्वेन विहितत्वं[1] भक्तिपदप्रवृत्तिनिमित्तं श्रवणादिषु भिन्नम्। न च तत्प्रापकत्वमेव तथेति वाच्यम्, द्वेषादेर्भगवदनुग्रहस्य च भक्तित्वापत्तेः।

न च 'साक्षात्' पदमनर्थकम्, विभूतिभजनकर्तुरपि तद्द्वारा तत्प्राप्तेः,

'यथाद्रिप्रभवा नद्यः पर्जन्यापूरिताः प्रभो।
विशन्ति सर्वतः सिन्धुं तद्वत् त्वां गतयोऽन्ततः ॥ (भाग० १०।४०।१०)

अथवा (अर्थात् श्रवणादि के लिए किये जाने वाले 'भक्ति' पद के प्रयोग को भाक्त या औपचारिक मानने के अलावा एक दूसरा विकल्प यह मानना है कि) श्रवणादि के साक्षात्पुरुषोत्तम के साधन के रूप में विहित होने के कारण श्रवणादि में 'भक्ति' पद की प्रवृत्ति होती है। तात्पर्य यह है कि श्रवणादि के लिए भक्ति पद का प्रयोग किये जाने का एक अन्य कारण माना जा सकता है और वह है 'श्रवणादि का साक्षात् पुरुषोत्तम की प्राप्ति के साधन के रूप में विहित होना।'

यहाँ यह कहना ठीक न होगा कि 'साक्षात्पुरुषोत्तम की प्राप्ति का साधन होना' ही 'भक्ति' पद की प्रवृत्ति का निमित्त है अर्थात् साक्षात्पुरुषोत्तम की प्राप्ति के साधन को ही भक्ति कहते हैं; क्योंकि यह मान लेने पर द्वेष आदि को तथा भगवदनुग्रह को भी भक्ति कहने या स्वीकार करने का अनिष्ट प्रसङ्ग उपस्थित होगा।

तात्पर्य यह है कि शिशुपाल आदि को भगवान् के प्रति द्वेषभाव रखने से ही भगवत्स्वरूप की प्राप्ति हो गयी थी अतः उनके लिए तो भगवान् से द्वेष ही भगवत्प्राप्ति का साधन हो गया। ऐसी स्थिति में भगवान् की प्राप्ति के साधनमात्र को भक्ति मान लेने पर भगवान् के प्रति द्वेषभाव रखने आदि को भी भक्ति मानना पड़ेगा अर्थात् भक्ति का लक्षण अतिव्याप्त हो जाएगा।

यह कहना भी ठीक न होगा कि उपर्युक्त **'साक्षात्पुरुषोत्तमप्रापकत्वेन विहितत्वम्'** इत्यादि वाक्य में प्रयुक्त **'साक्षात्'** पद निरर्थक है; क्योंकि जैसा कि **'हे भगवन्! जिसप्रकार पर्वत से निकलने वाली और वृष्टिजल से पूरित सभी नदियाँ सभी ओर से आकर अन्ततः समुद्र में ही प्रविष्ट होती हैं उसी प्रकार सारी गतियाँ**

---

1. **तस्माद् भारत! सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः।**
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम् ॥ (भाग० २।१।५)

इत्यादिवाक्यविहितत्वम्। अत्राभयस्य भगवत्प्रवेशरूपत्वात् साक्षात्पुरुषोत्तमप्रापकत्वं लभ्यते। तव्यस्यावश्यकार्थत्वस्वीकारेऽपि लोके विध्यर्थत्वप्रसिद्ध्या विधिलाभः, निबन्धे तथाङ्गीकारात्। वाक्यान्तरं वा विधायकं बोध्यम्। (श्रीपुरुषोत्तमप्रणीतविवेकः, पृष्ठ ५८–५९)।

इत्यादिप्रमाणसिद्धत्वेन तद्वारकत्वात् ।

श्रीकृष्णस्नेहत्वमेव फलरूपायां तस्यां तन्निमित्तम्, इत्यनेकार्थो भक्ति-शब्दः । प्रवृत्तिनिमित्तभेदेऽपि रविचन्द्रयोः पुष्पवच्छब्दवाच्यत्वमेकस्यामेवोक्तौ

अन्ततः आप में ही पर्यवसित होती हैं अर्थात् सारे फलों का पर्यवसान अन्ततः आप में ही होता है[1] ।' (भाग०१०।४०।१०) इत्यादि वाक्यों से सिद्ध है, विभूतियों की भक्ति करने वालों को भी विभूतियों द्वारा पुरुषोत्तमप्राप्ति होती ही है, और प्रकृत वाक्य में प्रयुक्त '**साक्षात्**' पद का प्रयोजन उसी का व्यावर्तन करना है ।

इस विषय में श्रीरघुनाथ अपनी भक्तितरङ्गिणी टीका में लिखते हैं, 'साक्षात्पदादाने लक्षणस्य **केवलव्यतिरेकित्वेन** ('असाधारणधर्मत्वात्तथात्वेन'—तीर्थ, पृष्ठ ५९) इतरभेदसाधने **स्वरूपासिद्धत्वं** ('स्वेन व्याप्यत्वात्मकेन हेतुरूपेणासिद्धत्वम्, व्याप्यत्वासिद्धत्वमित्यर्थः' तीर्थ, पृष्ठ ५९) स्यादित्यपि ज्ञेयम् । ('तद्विशदयन्ति'—तीर्थ, पृष्ठ ५९) विवादास्पदं भक्तिः कर्मादिभ्यो भिद्यते, पुरुषोत्तमप्रापकत्वेन विहितत्वात् । **यत्र कर्मादिभेदाभावः तत्र** तत्प्रापकत्वे सति विहितत्वाभाव इत्यसिद्धः सर्वस्यापि तत्परत्वादेवेति यद्यप्यसिद्धिवारकं विशेषणं व्यर्थं **मन्यन्ते** ('सर्वस्य भक्तित्वोपगमेन मन्यन्ते'—(तीर्थ, पृष्ठ ६०) तथापि **मतभेदेन 'योगास्त्रयो मया....'** (भाग०११।२०।६) इति वाक्यानुसारिणा सिद्धान्तिमतेनेत्यर्थः'—तीर्थ, पृष्ठ ६०) **ज्ञेयम्** ।' (भक्तितरङ्गिणी, पृष्ठ ५९—६०) ।

फलरूपा भक्ति के भक्ति होने में श्रीकृष्ण में स्नेह होना ही निमित्त अर्थात्

---

१. ननु तत्तदुपासकानां तत्तद्देवतासायुज्यस्योक्तत्वात् कथं **प्रमेयबल**विचारेण तेषां गत्यभाव इति चेत् तत्राह, '**यथाद्रिप्रभवा**' इति । साधनपरं चैतद्वाक्यम् ।

आकाशात्पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम् ।
सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति ॥

इतिवाक्यात् । प्रमेयबले च तेषां भगवत्सायुज्यमेव यदि निष्कामाः, परम्परा कालविलम्बश्च भवति, यथा भूतोपासकाः भूतसायुज्यं प्राप्नुवन्ति, ततो भूतानि महादेवसायुज्यं, महादेवो भगवत्सायुज्यमिति । एवं विहितानामविहितानां वा साक्षात्परम्परया वा भगवत्सायुज्यमेव फलमिति । यथा सर्वासामेव पर्वतप्रभवानां नदीनां मेघैरापूर्यमाणानां सिन्धुरेव प्रवेशस्थानं चतुर्दिक्षु न त्वन्यः कश्चित् प्रवेश-योग्यो भवति; तद्वदेव नदीप्राया जीवगणाः सहजेन पर्वतजलेन आगन्तुकेन वा वृष्टि-जलेन पूरिता भवन्ति तथा विधिना अविधिना च पूरिता जीवा जन्मकोटिभिः भगव-त्सायुज्यमेव प्राप्नुवन्ति । तथाभूतानामपि फलं साधयतीति ज्ञापनार्थं **प्रभो** इति । **गतयः फलानि । अन्ततः त्वय्येव विशन्ति** । (सुबो०१०।४०।१०)

यथा तथा क्वचिद्भक्तिपदं 'भक्त्याहमेकया ग्राह्यः' (भाग० ११।२४।२१) इत्यादिषु उभयवाचकमपि। उक्तरूपता तु,
'मामेव नैरपेक्ष्येण भक्तियोगेन विन्दति' (भाग०११।२७।५३) इत्यादिभिः, 'एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते। ये चाप्यक्षरमव्यक्तम्' (गीता१२।१) इति पार्थप्रश्नेन एतदुत्तरेण च, 'नालं द्विजत्वम्' (भाग०७।७।५१) इत्युपक्रम्य 'प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बनम्' (भाग०७।७।५२) इति प्रह्लादवाक्येन, 'न रोधयति मां योगः' (भाग०११।१२।१) इत्यादिश्रीमन्मुखोत्थवाक्यैः, 'भक्त्याहमेकया ग्राह्यः' (भाग०११।२४।२१) इत्यादिवाक्यसहस्रैश्च भक्तौ[1] अवधार्यते।

प्रयोजक है। इस प्रकार भक्ति शब्द अनेकार्थक है। शब्दप्रवृत्ति के निमित्त के भिन्न होने पर भी जिस प्रकार एक ही उक्ति में 'पुष्पवत्' शब्द के कहने से सूर्य और चन्द्र दोनों का बोध होता है, उसी प्रकार कहीं-कहीं, **'मुझे केवल भक्ति द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है'** (भाग०११।२४।२१) इत्यादि वाक्यों में **'भक्ति'** पद साधन एवं फल दोनों का वाचक अर्थात् बोधक भी होता है। और साक्षात्पुरुषोत्तम की प्राप्ति के साधन के रूप में विहित भक्ति पुष्टिभक्ति ही है इसका निश्चय, श्रीमद्भागवत में स्वयं भगवान् द्वारा कहे गये **'निरपेक्ष भक्तियोग से भक्त मुझे ही प्राप्त करता है'** (भाग०११।२७।५३) इत्यादि वाक्यों; गीता में अर्जुन के **'जो भक्त निरन्तर ऊपर (गीता ११।५५ इत्यादि में) कहे गये प्रकार से आपकी उपासना करते हैं तथा जो** (गीता ८।११-१३ में उल्लिखित) **अव्यक्त अक्षर तत्त्व की उपासना करते हैं'** (गीता १२।१) इत्यादि प्रश्न तथा भगवान् द्वारा दिये गये इस प्रश्न के उत्तर; भक्त प्रह्लाद के, **'हे असुरपुत्रो ! भगवान् मुकुन्द को प्रसन्न कर सकने में द्विजत्व...समर्थ नहीं है'** (भाग०७।७।५१) इत्यादि उपक्रमपूर्वक कहे गये, **'भगवान् हरि तो केवल निर्मल (अर्थात् अनन्यप्रयोजनवाली) भक्ति से ही प्रसन्न होते हैं; और ऐसी भक्ति के अभाव में द्विजत्व आदि अन्य सारे साधन विडम्बनामात्र (अर्थात् अकिञ्चित्कर) हैं।'** (भाग० ७।७।५२) इत्यादि वाक्य; स्वयं भगवान् द्वारा अपने श्रीमुख से कहे गये, **'हे उद्धव ! योगसाधन...मुझे वश में करने में समर्थ नहीं है'** (भाग० ११।१२।१), **'मैं केवल अनन्यप्रयोजनवाली भक्ति के ही द्वारा प्राप्य हूँ'** (भाग० ११।१४।२१) इत्यादि वाक्यों तथा इसी प्रकार के अन्य सहस्रों वाक्यों से होता है।

---

१. **'भक्तौ'** इति पुष्टिमार्गीयश्रवणादिनवके। तथा च तद्विधिषु फलत्वेन भगवतः स्पर्शो न दोषावहः, स्पर्शे भक्तित्वस्यैव प्रयोजकत्वादित्यर्थः। (श्रीपुरुषोत्तमप्रणीतविवेकः, पृष्ठ ६२-६३)।

मन्त्राधिष्ठातुस्तु पुरुषोत्तमविभूतिरूपत्वं पूर्वमुपपादितम् इति तत्प्रापकतज्जपार्चनादेः न भक्तित्वं वक्तुं शक्यम्; भक्तिसाधनत्वोक्तेश्च।

एवं सति भक्तिमार्गीयभजनप्रकारेषु स्नेह एव नियामकः स्नेहवताम्, कर्मणि विधिवत्[१]; तद्रहितानां तु तद्वत्कृत उपदेश एव[२]। स च वेदाविरुद्ध एव इति ज्ञेयम्।

मन्त्राधिष्ठातृदेवता पुरुषोत्तम के विभूतिरूप हैं यह हम पहले ही प्रतिपादित कर चुके हैं (देखिए, ऊपर पृष्ठ ८; २४), अतः उनकी प्राप्ति के साधनरूप उनके जप अर्चन आदि को भक्ति नहीं कहा जा सकता। उस जप-अर्चन आदि को भक्ति का साधन बताने वाले **'भक्तियोगं स लभते एवं यः पूजयेत माम्'** (भाग० ११।२७।५३) इत्यादि वाक्यों से भी इसी बात की पुष्टि होती है।

'उपासनादिमार्गीय पूजा को भक्ति भले ही न कहा जा सके पर भक्तिमार्गी भक्त द्वारा भक्ति में गिनी जाने वाली पूजा को भी तो—कोई अन्य नियामक दृष्टिगत न होने के कारण—विधि के ही अधीन मानना होगा; और ऐसी स्थिति में पुरुषोत्तम को अर्चनविधि का उद्देश्य न मानने के सिद्धान्ती के मत का विरोध होगा।' पूर्वपक्षी की इस आशङ्का का निराकरण करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि,

इस प्रकार उपासनामार्गीय पूजा और भक्तिमार्गीय पूजा में भेद है और भगवान् में निरवधि स्नेह रखते हुए भक्तिमार्गीय पूजा करने वाले भक्तों के पूजा-प्रकार का नियामक उनका भगवत्स्नेह ही है, ठीक उसी प्रकार जैसे वैदिक कर्म करने वालों के नियामक वैदिक विधिवाक्य होते हैं।

जो भक्त भगवान् के प्रति निरवधि स्नेह से रहित हैं किन्तु भक्तिमार्गीय पूजा में प्रवृत्त हैं उनके पूजा-प्रकार के नियामक भगवान् में निरवधि स्नेहपूर्वक भक्तिमार्गीय पूजा करने वाले भक्तों द्वारा दिये गये उपदेश हैं। वे उपदेश श्रुत्यविरोधी ही होते हैं, यह अवधेय है।

एतेन पूर्वपक्षे पूजाया यद्भक्तित्वमापादितं स्थितं तत् साधनरूपायां मर्यादाभक्तौ पुरुषोत्तमप्रापकत्वेन विहितायां वा तस्यां पर्यवस्यति न तु पुष्टिभक्ताविति बोधितम्। (तीर्थ, पृष्ठ ६२)।

१. भेदोपपत्तौ सत्यां शीतोष्णादिनिवारणाद्युपचारेषु स्नेहवतां तदधीनैव कृतिर्यागे विध्यधीनेव। (भक्तितरङ्गिणी, पृष्ठ ६३–६४)।

२. स्नेहेन क्रियमाणानां श्रवणादीनां स्नेहमध्यपातित्वे साक्षात्पुरुषोत्तमप्रापकत्वेन विहितत्वे च सति मुख्ये जघन्ये चाधिकारे यथायथं तदुभयं नियामकमित्यर्थः।

(श्रीपुरुषोत्तमप्रणीतविवेकः, पृष्ठ ६३–६४)।

तात्पर्य यह है कि भगवत्स्नेह से रहित होते हुए भी भक्तिमार्गीय पूजन में प्रवृत्त लोगों को स्नेहपूर्वक भगवद्भजन करने वाले भक्त मर्यादा के अनुसार वेदाविरोधी पूजा-प्रकार का उपदेश देते हैं और वह उपदेश ही उनके पूजा-प्रकार का नियामक होता है। इस प्रकार पुरुषोत्तम को अर्चन-विधि का उद्देश्य मानने का यहाँ कोई प्रसङ्ग ही नहीं है[1]।

इस वाक्य की श्रीरघुनाथकृत **'स्नेहस्यानुदितत्वान्मर्यादयैवोपदेश इत्यर्थः'** (भक्तितरङ्गिणी, पृष्ठ ६४–६५) इस व्याख्या को स्पष्ट करते हुए श्रीपुरुषोत्तम लिखते हैं, "'मर्यादयैव' इति। एतेन वेदाविरुद्धपदं व्याख्यातम्। तेन य इदानीन्तनाः तद्विरुद्धमुपदिशन्ति कुर्वन्ति वा ते भ्रान्ता इति सिद्ध्यति। तस्मात्पूर्वेषां रीतिमनुसृत्यैव कार्यम्। अत एव,

चन्दनोशीरकर्पूरकुङ्कुमागुरुवासितैः ।
सलिलैः स्नापयेन्मन्त्रैर्नित्यदा विभवे सति ॥ (भाग० ११।२७।३०)

स्वर्णघर्मानुवाकेन महापुरुषविद्यया ।
पौरुषेणापि सूक्तेन सामभी राजनादिभिः ॥ (भाग० ११।२७।३१)

इत्यनेनोक्तं स्नापनं ज्येष्ठाभिषेक एव क्रियते, विभवे सत्यपि न नित्यदा, श्रीजगन्नाथे तथैव करणात्।

वस्त्रोपवीताभरणपत्रस्रग्गन्धलेपनैः । (भाग० ११।२७।३२)

इत्यत्रोक्तेनाप्युपवीतेन नालङ्क्रियते, व्रजे भगवतोऽनुपनीतत्वात्।

अभ्यङ्गोन्मर्दनादर्शदन्तधावाभिषेचनम् ।
अन्नाद्यं गीतनृत्यानि पर्वणि स्युरुतान्वहम् ॥ (भाग० ११।२७।३५)

इत्यत्रोक्तेषु दन्तधावः कदापि न कार्यते। अभ्यङ्गोऽष्टदिनोत्तरम्। शेषा यथासौकर्यमिति युज्यते। एवमन्यदपि बोध्यम्। सर्वत्र श्रीभागवताद्युक्तव्रजस्थाद्याचरणस्यैव मूलत्वादिति।" (तीर्थ, पृष्ठ ६४)।

'भगवत्स्नेह विरहित व्यक्ति द्वारा की गयी पूजा को भक्तिमार्गीय पूजा कैसे कहा जा सकता है?' इस आशङ्का का निराकरण करते हुए ग्रन्थकार वैदिक कर्म का दृष्टान्त देकर भगवत्स्नेहरहित व्यक्ति द्वारा की गयी सम्प्रदाय-प्राप्त पूजा के भक्तिरूप होने का प्रतिपादन करते हैं।

---

१. एकादशे समाप्तौ भगवद्धर्मकथने भगवता,

देशान् पुण्यानाश्रयेत मद्भक्तैः साधुभिः श्रितान् ।
देवासुरमनुष्येषु मद्भक्ताचरितानि च ॥ (भाग० ११।२९।१०)

इत्याज्ञापनात् स्नेहार्थं भजन्तं प्रति तेषां स्नेहवता रीतिरुपदेष्टव्या न तु वैधी, तथा सति क्वार्चनविध्युद्देश्यत्वमित्यर्थः। (तीर्थ, पृष्ठ ६४)।

विधिमजानता बालेन पित्रादिशिक्षया कृतसन्ध्यावन्दनादेः कर्मत्ववदुपदेशानुसारेण कृतेरपि भक्तित्वम्, तन्मार्गीयत्वात्। एवम्भूतस्याग्रे स्नेहोऽवश्यं भावी इति ज्ञेयम्। यथा तादृग्बालकृतकर्मणोऽप्युक्तफलसाधकत्वं तथा तादृग्भजनस्यापि पुरुषोत्तमप्रापकत्वम् इति किमन्यद् अवशिष्यते ?

आधुनिकानामुपदेष्टॄणामपि स्नेहाभावेऽपि[1] तन्मूलभूतानां प्राचाम्

जिस प्रकार विधि को न जानने वाला उपनीत बालक अपने पिता आदि के द्वारा दिये गये उपदेशों के अनुरूप सन्ध्यावन्दन आदि वैदिक कर्म करता है और उसके द्वारा किये जाने वाले उन कर्मों को वैदिक कर्म माना जाता है, उसी प्रकार भगवत्स्नेहविरहित व्यक्ति द्वारा भगवान् में निरवधि स्नेह रखने वाले पुष्टिमार्गीय भक्तों के उपदेश के अनुसार की जाने वाली श्रवणकीर्तनादिरूप भक्तिमार्गीय पूजा भी भक्ति ही कही जाती है क्योंकि वह पूजा भक्तिमार्गीय है। यहाँ यह ध्यान में रखने योग्य है कि इस प्रकार पूजा करने वाले व्यक्ति को बाद में चल कर भगवत्स्नेह की प्राप्ति अवश्य होती है। जिस प्रकार पूर्वोक्त प्रकार के बालक द्वारा किये गये सन्ध्यावन्दन आदि कर्म उन कर्मों के वेदोक्त फलों के साधक होते हैं उसी प्रकार पूर्वोक्त प्रकार के भगवत्स्नेहविरहित व्यक्ति द्वारा पुष्टिमार्गीय भक्तों के उपदेश के अनुसार की गयी भक्तिमार्गीय पूजा भी पुरुषोत्तम की प्राप्ति का साधन होती है। और पुरुषोत्तम की प्राप्ति हो जाने पर फिर क्या प्राप्त करना शेष रह जाता है ?

इसे स्पष्ट करते हुए श्रीपुरुषोत्तम कहते हैं कि पूर्वपक्षी का कहना है कि भगवत्स्नेहविरहित व्यक्ति द्वारा की गयी श्रवणकीर्तनादिरूप पूजा स्नेहविरहित होने के कारण पुष्टिभक्ति नहीं कही जा सकती; वह भक्तिप्राप्ति के साधन के रूप में भी नहीं की जाती अतः मर्यादाभक्ति भी नहीं कही जा सकती; मोक्ष की कामना से न की जाने के कारण वह प्रावाहिक भक्ति भी नहीं कही जा सकती और भक्तिमार्गीय होने के कारण वह उपासनादिरूप भी नहीं मानी जा सकती, अतः—भक्ति, उपासना आदि किसी में भी अन्तर्भाव न हो सकने के कारण—उसका उपदेश ही निरर्थक है और उसका करना भी व्यर्थ ही है। इसके उत्तर में सिद्धान्ती यह कहते हैं कि भगवत्स्नेहविरहित व्यक्ति द्वारा की गयी पूजा पुष्टिभक्ति ही है अतः उसका उपदेश निरर्थक नहीं कहा जा सकता और वह पूजा भी भगवत्प्राप्तिरूप फल का साधन होने के कारण निरर्थक नहीं कही जा सकती।

यद्यपि भक्तिमार्गीय पूजा—प्रकार के आधुनिक उपदेष्टाओं में भी भगवत्स्नेह का अभाव है तथापि इनके मूलभूत प्राचीन आचार्यों में भगवान् के प्रति निरतिशय प्रेम था

---

१. ननु तथापीदानीं तदुपदेशवैयर्थ्यं वज्रलेपायितम्, आधुनिकानामुपदेष्टॄ-

आचार्याणां तद्भक्त्वेन [1]तदनुगृहीतत्वेन सर्वोपपत्तेः। स्वानुगृहीतभक्तप्रवर्तितत्वेन यतः तन्मार्गे पक्षपातो भगवतः, अतः श्रीभागवते ब्रह्मादिवाक्यम्,

स्वयं समुत्तीर्य सुदुस्तरं द्युमन् भवार्णवं भीममदभ्रसौहृदाः।
भवत्पदाम्भोरुहनावमत्र ते निधाय याताः सदनुग्रहो भवान्॥

(भाग० १०।२।३१) इति।

अत्र भगवत्पदाम्भोजस्य भक्तिमार्गत्वेन तद्रूपस्वसम्प्रदायप्रवर्तनमेव तन्निधानम्।

तत्प्रवर्तितसम्प्रदाये प्रवृत्तानां तादृक्साधनाभावेऽपि साक्षादनुगृहीतेषु पक्षपातेन तत्सम्बन्धिषु अपि अनुग्रहं करोषि इत्याभिप्रायेणोक्तम्, सदनुग्रह इति। सत्सु अनुग्रहो यस्य इत्यर्थः। अस्मिन्नर्थे प्रामाण्यार्थं भगवत्सम्मतिरेव दर्शिता, 'भवान्' इत्यनेन। तत्सम्प्रदायस्थानां तरणावश्यम्भावाय नौत्व-

---

और वे भगवान् द्वारा अनुगृहीत थे, अतः (इनके द्वारा उपदिष्ट प्रकार से की जाने वाली पूजा को पुष्टिभक्ति मानने में) कोई अनुपपत्ति नहीं है। भगवान् का अपने द्वारा अनुगृहीत भक्त के द्वारा प्रवर्तित मार्ग (सम्प्रदाय) में पक्षपात रहता है। इसीलिए श्रीमद्भागवत में ब्रह्मा आदि ने कहा है कि, **'हे परमप्रकाशस्वरूप परमात्मन्! सत्पुरुष भक्तों पर आपकी महती कृपा है जिससे वे स्वयं इस भयंकर और दुस्तर संसार सागर को पार कर, जाते-जाते अन्य लोगों के कल्याण (अर्थात् संसार-सागर को पार करने) के लिए आप के चरणकमलों की नौका स्थापित कर जाते हैं।'** (भाग०१०।२।३१)। यहाँ भगवान् के चरणकमल के भक्तिमार्गरूप होने के कारण उसका ('निधान' अर्थात्) स्थापित करना वस्तुतः भक्तिमार्गरूप सम्प्रदाय का प्रवर्तन करना ही है।

अपने द्वारा साक्षात् रूप से अनुगृहीत भक्तों का पक्षपात करने के कारण भगवान्, उनसे सम्बद्ध होने के कारण उनके द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय में प्रवृत्त लोगों पर भी, उन लोगों के समर्थ साधनों से विरहित होने पर भी अनुग्रह करते हैं। पूर्वोक्त श्लोक में भगवान् को **'सदनुग्रह'** अर्थात् **'सत्पुरुषों पर अनुग्रह करने वाला'** कहने का यही अभिप्राय है। इस सिद्धान्त की प्रामाणिकता की पुष्टि करने के लिए इसी श्लोक में **'भवान्'** (आप) इस पद के प्रयोग द्वारा इस सिद्धान्त को भगवत्सम्मत दिखाया गया है। 'भगवद्भक्त द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय में स्थित लोगों का संसार-सागर को पार कर जाना अवश्यम्भावी है', यह द्योतित करने के लिए भगवच्चरणकमलों की नौका का

णामपि स्नेहाभावात्। तथा च भक्तिमार्गीयत्वमप्यभिमानमात्रमिति तदपि व्यर्थ-मित्याशङ्कायामाहुः, 'आधुनिक-' इत्यादि। (श्रीपुरुषोत्तमप्रणीतविवेकः, पृष्ठ ६५)।

१. तेषामिति शेषः। (वही, पृष्ठ ६५)।

निरूपणम्। तेन अनायासेन भवाब्धितरणं सूचितम्। बाहुभ्यां तरणे ह्यायासो नावा तरणे न तथा इत्येतत्सर्वं विवरणे पितृचरणैः विवृतमिति[1] नात्र लिख्यते।

भगवद्भजने परमियं व्यवस्था। अग्निहोत्रादीनां प्रभ्विच्छां ज्ञात्वा

निरूपण किया गया है। इसके द्वारा यह भी सूचित किया गया है कि वे विना किसी प्रयास के ही संसार-सागर को पार कर जाएँगे, क्योंकि हाथों के बल से तैर कर पार करने में प्रयास करना पड़ता है, पर नाव से पार करने में नहीं। यह सब पूज्य पितृ-चरण श्रीवल्लभाचार्य ने श्रीमद्भागवत की अपनी सुबोधिनी टीका में स्पष्ट रूप से लिख दिया है अतः (पिष्टपेषण बचाने के लिए) हम उसे यहाँ नहीं लिख रहे हैं।

किन्तु ('सदनुग्रहः' पद की व्याख्या द्वारा सङ्केतित) यह व्यवस्था (कि

---

१. ...प्रमेयमाह, **'स्वयं समुत्तीर्य...'** इति। तीर्णस्यास्थापनेनैव वत्सपद-करणात् सम्पूर्णानुवादे **'सुदुस्तरं भवार्णवं भीमम्'** इत्युक्तम्। मोक्षप्रतिपादकत्वात् सर्वशास्त्राणां मोक्षः सम्प्रदायश्च प्रमेयं भवति।......तेषूत्तीर्णेषु तदनुसरणेनैव भूयान संसारो गत इति पोतरूपोऽपि पादः सुखदः सर्वप्रदर्शकः। तत्कृपयानतिगम्भीरोऽम्भो-रुहनौकारूपो जातः समुद्रश्च नदीरूपो जातस्तदाह **'भवत्पदाम्भोरुहनावम्'** इति। **अत्र एव निधाय याताः**। ननु ते महता प्रयासेन भगवन्तमाराध्य वशीकृत्य चरणमारुह्य सर्वं चरणे निवेश्य यातास्तदुपदेशिनस्तु न तद्विधा इति कथं तरणं भविष्यतीत्या-शङ्क्याह, **'सदनुग्रहो भवान्'** इति। सत्स्वनुग्रहो यस्य। 'भवान्' इति। अस्मिन्नर्थ सम्मतिरुक्ता (सुबो० १०।२।३१)।

'सम्पूर्णानुवाद' इति। अन्यं प्रति **सम्पूर्णानुवादे**। किमत्र प्रमेयं **योगप्रमाणेन** प्रमितं भवतीत्यत आहुः, **मोक्षः** इत्यादि। **मोक्षः सम्प्रदायश्च** इति। **फलत्वेन** साधनत्वेन चेति शेषः। तथा **चैतद्** द्वयमिह योगजधर्मेण प्रमितं भवतीत्यतस्तथेत्यर्थः। ...ननु श्लोकद्वयेऽपि संसारस्य समुद्रत्वकथनात्प्रत्युतास्मिन् दुस्तरत्वाद्युक्तेरत्र चरणस्य पोतत्व-कथनमेवोचितं तदपहाय किमिति नौत्वादिकमुच्यत इत्याकाङ्क्षायामाहुस्तेष्वित्यादि। **सर्वप्रदर्शक** इति। कूलपरिच्छिन्नतया सर्वसंसारप्रदर्शकः। एतस्यैव विवरणं तत्कृपया इत्यादि। एवं च पूर्वोक्तेन स्मार्तेन योगरूपेण प्रमाणेन भगवच्चरणरूपभक्तिमार्गात्मक-साधनभूतं प्रमेयं ततो भगवत्प्राप्त्यात्मकं फलरूपं च प्रमेयं प्रमितं भवतीत्यर्थः। चरणस्य सम्प्रदायपरत्वं तु पूर्वश्लोकोक्तमहत्कृतपदादेव सिद्धम् इति न चोद्यावसरः। एतन्निदर्शनं च **'भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहित'** (भाग० १।७।४) इति प्रथमस्कन्धोक्तव्याससमाधिसन्दर्भाज् ज्ञेयम्। **सत्स्वनुग्रहो यस्य** इति। तथार्वाचीना-नामतथात्वेऽपि तन्मूलभूतेष्वाचार्येष्वनुग्रहात् तदनुसारिणस्तारयसीत्यर्थः। (सुबोधिनी-टिप्पण्योः प्रकाशः १०।२।३१)।

यदानुष्ठानं तदा यथाकल्पसूत्रमेव। एतेन अप्रामाणिकत्वेन अन्धपरम्परात्वशङ्का निरस्ता, प्रमाणसिद्धत्वात्।

भगवान् का श्रवणकीर्तनादि सम्प्रदायप्राप्त-प्रकार से ही करना चाहिए, सम्प्रदायप्राप्त न होने पर विध्यनुरोधी पूजा-प्रकार के अनुसार भगवद्भजन करना भी उचित नहीं है) केवल भगवद्भजन के बारे में ही है (वैदिक कर्म आदि के सम्बन्ध में नहीं)। प्रभु की इच्छा या आज्ञा जान कर अग्निहोत्रादि का अनुष्ठान करने आदि के समय तो कल्पसूत्र में बतायी गयी विधि का ही अनुसरण करना चाहिए।

श्रीपुरुषोत्तम के अनुसार यहाँ 'प्रभ्विच्छां ज्ञात्वा' (अर्थात् प्रभु की इच्छा या आज्ञा को जान कर) इत्यादि पदों का आशय यह है कि भगवान् की विशेष आज्ञा के अभाव में,

> **श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्ते उल्लङ्घ्य वर्तते।**
> **आज्ञाच्छेदी मम द्वेषी मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः॥**

इत्यादि सामान्य आज्ञा का पालन करते हुए, अग्निहोत्रादि कल्पसूत्रों के अनुसार ही करना चाहिए।

पूर्वपक्षी का कहना है कि 'ऊपर भगवत्स्नेहविरहित व्यक्ति द्वारा भक्तिमार्गीय भक्तों के उपदेशानुसार सम्प्रदायप्राप्त प्रकार से भगवद्भजन करनेको जो व्यवस्था दी गयी है वह वाचनिक अर्थात् श्रुतिस्मृत्युक्त न होने से प्रामाणिक नहीं है। इस प्रकार किया जाने वाला भगवद्भजन—प्रयोजक स्नेह का अभाव होने के कारण—अन्धपरम्परामात्र है और भगवत्स्नेहरूप फल को, उत्पन्न नहीं कर सकता।' इस आशङ्का का समाधान करते हुए सिद्धान्ती कहते हैं कि,

पूर्वोक्त वाक्य से स्नेहविरहित व्यक्ति द्वारा भक्तिमार्गीय भक्तों के उपदेशानुसार सम्प्रदाय-प्राप्त प्रकार से किये जाने वाले भगवद्भजन के अप्रामाणिक होने के कारण अन्धपरम्परामात्र होने की शङ्का का निराकरण भी हो गया क्योंकि इस प्रकार का भगवद्भजन प्रमाणसिद्ध है।

इस वाक्य की व्याख्या करते हुए श्रीरघुनाथ लिखते हैं कि शिष्टाचार के प्रमाण होने के कारण भगवत्स्नेह के अभाव में भी सप्रदाय-प्राप्त प्रकार से किया जाने वाला भगवद्भजन प्रामाणिक है अतः उसके अन्धपरम्परामात्र होने की आशङ्का नहीं करनी चाहिए। इसे स्पष्ट करते हुए श्रीपुरुषोत्तम कहते हैं कि,

'साधूनां समयश्चापि प्रमाणं वेदवद्भवेत्' इत्यादि वाक्य में शिष्टाचार को वेद के समान प्रामाणिक कहा गया है अतः कलियुग में शिष्टाचार स्मृतियों की अपेक्षा प्रबल प्रमाण है। इसलिए सम्प्रदायप्राप्त शिष्टानुगृहीत भगवद्भजनप्रकार के

प्रेम्णश्च फलत्वेन स्वकृत्यसाध्यत्वेन च न विहितत्वं सम्भवति किन्तु तस्यानुवाद एव[1]।

'य एतस्मिन् महाभागाः प्रीतिं कुर्वन्ति मानवाः।'[2] (भाग० १०।८।१८)

'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।

अन्धपरम्परामात्र होने की आशङ्का नहीं करनी चाहिए।

भगवत्प्रेम फलरूप है और जीवकृतिसाध्य नहीं है अतः उसका विधान नहीं किया जा सकता केवल अनुवाद ही किया जा सकता है।

तात्पर्य यह है कि फलरूप होने के कारण स्नेहरूपा पुष्टिभक्ति का विधान नहीं हो सकता, केवल अनुवाद ही हो सकता है, किन्तु साधनरूप श्रवणाद्यात्मक भक्ति का विधान हो सकता है। इसीलिए नीचे उद्धृत श्लोकों में फलरूपा भक्ति का अनुवादमात्र किया गया है और साधनरूपा भक्ति का विधान किया गया है।

'जो महाभाग मानव इन भगवान् श्रीकृष्ण से **प्रेम करते हैं (उन्हें शत्रु अभिभूत नहीं कर पाते)'** (भाग० १०।८।१८), **'भगवान् के माहात्म्य के ज्ञानपूर्वक,**

---

१. ननु तापनीयश्रुतौ 'तं भजेद्' इति विधाय **'भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैराश्येनामुष्मिन् मनःकल्पनम्'** इति लक्षणदर्शनात् प्रेम्णोऽपि विहितत्वात् कस्तत्र विशेषः? ... उपबृंहणवाक्येष्वनुवाददर्शनात्तत्रापि प्रेमकारणीभूतमनोव्यापारस्यैव विधानं, न तु प्रेम्ण इत्याशयः। (तीर्थ, पृष्ठ ६८–६९)।

२. **य एतस्मिन् महाभागाः प्रीतिं कुर्वन्ति मानवाः।**
नारयोऽभिभवन्त्येतान् विष्णुपक्षानिवासुराः॥ (भाग०१०।८।१८)

ये महाभागाः एतस्मिन् भगवति **प्रीतिं** स्नेहं **कुर्वन्ति** तान् **अरयो नाभिभवन्ति**। स्वत एव तर्हि सर्व एव कथं प्रीतिं न कुर्वन्ति इत्याशङ्क्य भगवत्प्रीतौ स्वरूपयोग्यता सहकारियोग्यता चापेक्ष्यत इत्याह, **मानवाः** मनोर्जाताः सद्धर्मरूपा धर्मार्थ एवोत्पन्ना इति स्वरूपयोग्यानां 'मन्वन्तराणि सद्धर्म' इतिवाक्यात्। **महाभागा** इति,

जन्मान्तरसहस्रेषु तपोध्यानसमाधिभिः।
नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते॥

इतिवाक्यात् परमभाग्येनैव प्रीतिर्जायते। **प्रीतिम्** इति सर्वदैकविधप्रीतिकरणार्थमेकवचनं, पटवद् वृद्ध्यर्थं वा, खण्डशःकरणाभावार्थं वा। हेतुस्तूक्त एव। **य** इति प्रसिद्धतया तेषां निर्देशः, भवन्तस्त इति प्रतिनिर्देशार्थः। **एतान्** परिदृश्यमानान् गोकुलस्थान्। (सुबो० १०।८।१८).

सुबोधिनी के अनुसार इस श्लोक का अङ्क १०।८।१९ है।

स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा ॥'(शास्त्रार्थप्र०का०४२)[1]
तृतीयस्कन्धे च, 'देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम्।[2]' (भाग०३।२५।३२)
इत्यादि, 'मद्गुणश्रुतिमात्रेण[3]' (भाग० ३।२९।११) इत्यादि ।

भगवान् में सुदृढ़ और सर्वाधिक स्नेह होना ही भक्ति कहा गया है; और मुक्ति इस भक्ति से ही होती है, अन्यथा (अर्थात् किसी अन्य प्रकार या साधन से) नहीं।' (शास्त्रार्थप्र० का० ४२); तथा श्रीमद्भागवत के तृतीयस्कन्ध के, 'वेदविहित कर्मों में लगी हुई, रूपादि गुणों द्वारा अनुमित होने वाली देवरूप इन्द्रियों की··· (भगवान् श्रीहरि में स्वाभाविक वृत्ति)····' (भाग० ३।२५।३२-३३) इत्यादि एवं 'मेरे गुणों के श्रवणमात्र से (लौकिक और वैदिक प्रतिबन्धों को दूर कर मन को भगवान् में तैलधारावदविच्छिन्न रूप से उसी प्रकार लगा देना जिस प्रकार गङ्गाजल पर्वतादि को पार करके भी समुद्र में अविच्छिन्न रूप से गिरता है, निर्गुण भक्तियोग का लक्षण कहा गया है[3]।) (भाग० ३।२९।११) इत्यादि वाक्यों में स्नेहरूपा भक्ति का अनुवाद ही किया गया है (न कि विधान)।

---

१. यह श्लोक शास्त्रार्थप्रकरण में नारदपञ्चरात्र से लिया गया है।

२. देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम्।
सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या ॥ (भाग० ३।२५।३२)।
अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी।
जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा ॥ (भाग० ३।२५।३३)।

तत्र भक्तिं लक्षयति, 'देवानाम्' इति द्वयेन।···एकमनसः पुरुषस्य सर्वेन्द्रियाणां सत्त्वमूर्तौ भगवति या स्वाभाविकी वृत्तिः, सा भक्तिरिति। इन्द्रियाणि हि द्विविधानि स्वभावतः 'द्वया ह प्राजापत्याः' इत्यत्र निरूपितानि। एकानि देवरूपाणि एकान्यासुररूपाणि।···दोषान्निवृत्तानि स्वस्य देवभावं प्राप्नुवन्ति तदा कार्यतोऽपि देवरूपाणि भवन्ति।···तत्र भक्तिर्दैवैरेव भवति। 'गुणलिङ्गानाम्' इति। गुणा रूपादयः, तैर्लिङ्ग्यन्ते, गुणा लिङ्गानि येषामिति। देवरूपाणामिन्द्रियाणामेतल्लक्षणम्।···आनुश्रविकाणि···एव कर्माणि येषाम्।···कार्याणि तु वैदिकान्येव तेषाम्। दैवात् येषामेतादृशानीन्द्रियाणि भवन्ति तेषां भक्तिर्भवतीत्युक्तम्। (सुबो० ३।२५।३२)। द्रष्टव्य, सुबोधिनी ३।२५।३२–३३.

३. मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ॥

तात्पर्य यह है कि इन वाक्यों में श्रीकृष्ण में निरतिशय प्रेम रखने वालों को महाभाग कह कर, भगवान में सुदृढ़ एवं सर्वाधिक स्नेह को ही भक्ति (एवं मुक्ति का एकमात्र साधन) कह कर, अहैतुकी एवं अव्यवहित भक्ति को निर्गुण कह कर तथा भगवान् में मन की स्वाभाविक वृत्ति को भक्ति कहते हुए उसे सभी सिद्धियों से श्रेष्ठ बता कर, प्रेमात्मक भक्ति का (विधान न कर के) अनुवादमात्र किया गया है।

सालोक्य-सार्ष्टि-सामीप्य-सारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥
स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः ।
येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते ॥ (भाग० ३।२९।११-१४)।

निर्गुणां भक्तिमाह द्वयेन, 'मद्गुण' इति। ··· सर्वगुहाशये मयि भगवति, प्रतिबन्धरहिता अविच्छिन्ना या मनोगतिः। पर्वतादिभेदनमपि कृत्वा यथा गङ्गाम्भोऽम्बुधौ गच्छति, तथा लौकिकवैदिकप्रतिबन्धान् दूरीकृत्य या भगवति मनसो गतिः। मनस इत्युपलक्षणम्, दुर्लभत्वाय वा; यथा कायिकगतिर्गोपिकानाम्। सा गतिः निर्गुणस्य भक्तियोगस्य भगवति प्रेम्णः गतिः लक्षणं ज्ञापकमित्युत्तरेण सम्बन्धः। ··· निर्गुणस्य भक्तियोगस्य तल्लक्षणम् उदाहृतम् इति प्रमाणम्। आत्यन्तिकभक्तेर्लक्षणमाह, अहैतुकी इति सार्द्धाभ्याम्। या अहैतुकी पुरुषोत्तमे भक्तिः स एव भक्तियोग आत्यन्तिक उदाहृतः इति सम्बन्धः। पुरुषोत्तम एव भक्तिः, न तु पुरुषेष्ववतारेषु वा। भक्तिश्च प्रेमपूर्विका सेवा। हेतुः फलानुसन्धानम्, तद्रहिता अहैतुकी, अनिमित्ता वा। अनेन सगुणा निवारिता। अव्यवहिता इति कालेन कर्मणा वा यत्र सेवायां व्यवधानं नास्ति, न तु निद्राभोजनादिना; तस्य सेवाहेतुत्वात्। या भक्तिः इति लोकवेदप्रसिद्धा, न तु चौर्यादिना विषयान् सम्पाद्य भगवत्सेवाकरणम्। तस्या निदर्शनमाह—'सालोक्य' इति। सैवात्यन्तिकी या स्वतो रसभावं प्राप्ता, सैव नान्यत् फलमङ्गीकारयति। अत्यन्तप्रेमोत्पत्तावेवं भवति। सालोक्यं वैकुण्ठे वासः; सार्ष्टिः समानैश्वर्यम्; सामीप्यं भगवत्समीपे स्थितिः, सालोक्येऽप्ययं विशेषः; सारूप्यं स्वस्यापि चतुर्भुजत्वम्; एकत्वं सायुज्यम्। उत इति तस्य मुख्यफलत्वं ज्ञापयति। तदपि दीयमानं न गृह्णन्ति इत्यत्यन्तानादरे। दीयमानत्वं स्नेहात्। मत्सेवनम् इति सेवैवानन्दरूपा जाता इति समासाद्बोध्यते; यतः ते जनाः सेवकाः। भक्तियोग इति तस्यैव नाम। स एव आत्यन्तिक इति उदाहृतः। तस्य स्वातन्त्र्याय भगवत इव फलसाधकत्वमाह—येन इति। येन भक्तियोगेन त्रिगुणमतिव्रज्य, मद्भावाय भगवत्त्वाय, उपपद्यते योग्यो भवति इत्यर्थः। (सुबो० ३।२९।११–१४।)

साधनरूपा श्रवणादिलक्षणा तु,
'तस्माद्भारत ! सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः ।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम् ॥' (भाग०२।१।५)
इत्यादिवाक्यैर्विधीयत एव इति सर्वम् अनवद्यम् इति दिक् ।

उपास्तिं मन्यन्ते मधुमथनभक्तिं निजकृता-
र्थतां तत्रोपास्यं परमपुरुषञ्चापि सुविदः ।
द्वयोः सारूप्यात्तद्भ्रमहतिकृते मानसगतम्
मुदा भक्तेर्हंसं प्रकटमकरोद्विट्ठलकृती ॥ १ ॥
व्रजामि चरणं मुदा शरणमैहिकामुष्मिके ।

और साधनरूप श्रवणादिलक्षणा भक्ति का तो, 'अतः हे परीक्षित ! अभयप्राप्ति की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को सर्वात्मा परमेश्वर भगवान् हरि का श्रवण, कीर्तन एवं स्मरण करना चाहिए ।[1]' (भाग० २।१।५) इत्यादि वाक्यों में विधान किया ही गया है । इस प्रकार पूर्वोक्त सिद्धान्त की सारी बातें ठीक हैं । सिद्धान्त की पुष्टि के लिए दी जाने वाली युक्तियों का उपर्युक्त प्रकार से दिशानिर्देश किया गया है (इसी प्रकार की अन्य युक्तियाँ अणुभाष्य (३।३) आदि में दी गयी हैं, उन्हें वहीं से समझना चाहिए ।

अब श्रीविट्ठलनाथ अपनी इस कृति की रचना का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए ग्रन्थ का उपसंहार करते हैं ।

सम्प्रदायाभिज्ञ विद्वान् लोग भी मन्त्रोपासना (अर्थात् गोपाल आदि मन्त्रों की उपासना) को ही भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति समझ बैठते हैं और उस उपासना से ही अपने को कृतार्थ मान लेते हैं । वे उस उपासना का उपास्य (अर्थात् विषय, उद्देश्य या फल) परमपुरुष अर्थात् पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण को समझते हैं । ऐसा इसीलिए होता है कि उपासना एवं भक्ति में सरूपता है । दोनों (अर्थात् उपासना एवं भक्ति, उपास्य एवं भजनीय तथा उपासनामार्ग और भक्तिमार्ग के बाह्यसाधनों के आचरण) में सारूप्य अर्थात् सादृश्य होने के कारण उत्पन्न होने वाले दोनों के अभिन्न होने के स्वाभाविक भ्रम के अपनयन के लिए सफलोद्यम गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथ ने प्रसन्नतापूर्वक, अपने मानस में स्थित अर्थात् हृद्गत मानसरोवर के नीरक्षीरविवेकी हंसों के सदृश (उपासना एवं भक्ति में भेद स्पष्ट करने वाले) इस भक्तिहंस (नामक ग्रन्थ) को सभी के कल्याण के लिए प्रकट किया ॥ १ ॥

मैं ऐहिक तथा आमुष्मिक अर्थों की प्राप्ति के लिए प्रसन्नतापूर्वक, अपने बारे

---

१. देखिए, इस श्लोक की सुबोधिनी टीका और उसकी प्रकाश व्याख्या ।

निरस्तनिजसंशयो य इह भाग्यवद्भिः स्मृतः ।
व्रजेशसुतपादपङ्कजपरागरागाञ्चितम् ।
करोतु सततं स मां निजतनूजवात्सल्यतः ॥ २ ॥
इति श्रीमद्गोपीजनवल्लभचरणैकतानश्रीविट्ठलेश्वरविरचितो
भक्तिहंसः
समाप्तः ॥

में होने वाले अथवा अपनों को होने वाले अथवा अपनों को ऐहिक एवं आमुष्मिक अर्थों के सम्बन्ध में होने वाले सारे संशयों को दूर कर देने वाले तथा सौभाग्यशाली (पुण्यात्मा) लोगों द्वारा स्मरण किये जाने वाले अपने पूज्य पिता श्रीवल्लभाचार्य के चरणों की शरण में जाता हूँ। वे पितृचरण मुझे अपना पुत्र होने के वात्सल्य के कारण अर्थात् पुत्रस्नेहवश नन्दनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों की रज से सदा व्याप्त रखें ॥ २ ॥

इस श्लोक का ऊपर मूल में दिया गया पाठ भक्तितरङ्गिण्यनुरोधी है । श्रीपुरुषोत्तम के अनुसार इसके चतुर्थ चरण का पाठ,

'करोति सततं हि मां निजतनूजवात्सल्यतः ।' है । उन्होंने अपनी विवेकटीका में इस श्लोक के उत्तरार्द्ध का, 'जिन श्रीवल्लभाचार्य ने पुत्रस्नेहवश निरन्तर (कमलों के पराग में आसक्ति से व्याप्त अर्थात्) अतिसुखासक्त मुझ विट्ठलनाथ को नन्दनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण के चरणरूप भक्तिमार्ग का रक्षक बना रखा है[1] ।' यह अर्थ भी किया हैं ।

श्रीमद्गोपीजनवल्लभ भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों के अनन्य भक्त
गोस्वामिश्रीविट्ठलनाथ
द्वारा विरचित
भक्तिहंस
समाप्त हुआ ॥

---

१. तत्फलं स्वस्मिन् दर्शयन्ति । यः निजतनूजवात्सल्यतः सततं कजपरागरागाञ्चितम् कजानि पद्मानि तत्परागे यो राग आसक्तिः तेन अञ्चितं व्याप्तम्, अतिसुखासक्तमित्यर्थः । तादृशं माम्, व्रजेशसुतपादपम् व्रजेशसुतो भगवान्, तत्पादरूपो भक्तिमार्ग इति 'भवत्पदाम्भोरुहनावम्' (भाग० १०।२।३१) इत्यत्र सिद्धम्, तस्य पं रक्षितारं करोतीत्यर्थः । एवमन्वयेन यतिभङ्गदोषः परिहृतो बोध्यः । यथाश्रुतव्याख्यायां तु वृत्तगन्धिचूर्णिकात्वान्न तत्र यतिविचार इति सर्वमनवद्यम् । (श्रीपुरुषोत्तमप्रणीतविवेकः, पृष्ठ ७०–७२) ।

बाराबङ्कीतिनाम्नि प्रथितजनपदे पुण्यसाकेतसीम्नि,
शाकद्वीपीयविप्रेषु विजयनगरेऽभूद् भरद्वाजगोत्रः।
शम्भोर्भक्तः भवानीपदयुगमधुलिड् विष्णुपादानुरक्तः,
लक्ष्मीनारायणाख्यः सुविदितमहिमा राजमान्यो मनीषी ॥
सूनोस्तस्यात्मजन्मा विमलमतिरुमाशङ्करस्य द्वितीयः,
मिश्रः केदारनाथः सहृदयहृदयोऽध्यापको दर्शनानाम्।
हिन्दूनां प्राणभूते स्मरहरनगरीविश्वविद्यालयेऽस्मिन्,
व्याख्यामेनां स्वतुष्टयै व्यलिखदतिमुदा भक्तिहंसस्य नव्याम् ॥
आपौगण्डात्पितृवदनिशं पोषयन् प्रेमपूर्वम्,
कर्तुं यो माम् उपचितगुणं सर्वयत्नान्व्यकार्षीत्।
सन्तुष्टः स्याद् अनुजलिखितां वीक्ष्य टीकां नवीनाम्,
अग्रेजातः सुकविगिरिजाशङ्करो मिश्र एनाम् ॥

बाणाङ्कवसुभूवर्षे पूर्णिमायामिषे शके।
भक्तिहंसविवेकाख्या व्याख्येयं पूर्तितामिता ॥

॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥